डॉ० सुमन राजे का आलोचना-संसार लगभग तीन दशकों की यात्रा है, जिसमें निरन्तर नए क्षेत्रो की तलाश की कशिश है । क्षेत्रो की विविधता ने उनकी आलोचना को एक दुर्लभ नयी बुनावट दी है । प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के ज्ञान को नितान्त समकालीन संदर्भों से जोड़ना सहज ही पहचान मे आने वाली विशेषता है ।

साहित्येतिहास के क्षेत्र में डॉ० सुमन राजे एक स्थापित नाम है । उन्होंने मात्र सिद्धान्त कथन करके एक "समग्र गुणशील साहित्येतिहास" का वायवी रूप खड़ा नही किया, बल्कि स्वयं इतिहास लेखन के बीहड़ में सार्थक यात्राएं की हैं । साहित्येतिहास' संरचना और स्वरूप", "साहित्येतिहास: आदिकाल" सवाल भी उठाते हैं तथा उत्तर प्रस्तुत करने की विनम्र कोशिश भी करते हैं । इस प्रक्रिया में विकसित डॉ० राजे की इतिहास दृष्टि उनकी आलोचना की मूल शक्ति है । "काव्य-रूप संरचना उद्‌भव और विकास" में इस मूल दृष्टि के कारण ही वे काव्य-रूपों को सांस्कृतिक इतिहास के साथ जोड़कर देखती हैं । इधर उन्होने महिला-लेखन को केन्द्रित कर विचारोत्तेजक आलेख लिखे हैं । डॉ. सुमन राजे का मानना है कि आलोचना को शोध से परहेज नहीं करना चाहिए और इसके साक्ष्य हैं पुस्तक में संग्रहीत आलोचना-आलेख ।

टी० एस० इलियट ने आलोचना को रचना की कार्यशाला कहा था । यह पुस्तक इस संदर्भ मे डॉ० सुमन राजे की रचनात्मक कार्यशाला है ।

रचना की कार्यशाला

डॉ० सुमन राजे

रचना की कार्यशाला

प्रकाशक

साहित्य रत्नालय

३७/५०, गिलिस बाजार

कानपुर - २०८ ००१

लेखिका

डॉ० सुमन राजे

संस्करण

१९९८

मूल्य

दो सौ रुपये

शब्द सज्जा

आशीष ग्राफिक्स, जूही, कानपुर

मुद्रक

मूर्ति प्रिण्टर्स कानपुर

अनुक्रमणिका

लोकप्रिय संस्कृति और साहित्य का संकट

मैं अपनी बात, आज से लगभग छः दशक पूर्व लिखे, आचार्य रामचद्र शुक्ल के एक निबंध के उद्धरण से शुरू करना चाहती हूँ अनेक संदर्भों के लिए ख्यात अपने निबंध "कविता क्या है ?" में उन्होंने लिखा है "सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यों के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गये त्यों-त्यो उनके मूल रूप बहुत कुछ अच्छन्न होते गये । भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर भीतर बना है और बराबर बना रहेगा । . . . . . . पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता । इसी से इससे प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि कर्म का एक मुख्य अंग है । ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायेगी, त्यों-त्यों कवियो के लिए यह काम बढ़ता जायेगा । . . . . . . इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायेंगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि - कर्म कठिन होता जायेगा ।"

साहित्य के अस्तित्व और सार्थक उपस्थिति के लिए सबसे बड़ी चुनौती है तेजी से प्रसारित होने वाली लोकप्रिय संस्कृति, संस्कृति के केंद्र में जिस संस्कारिता का संस्पर्श जरूरी होता है लोकप्रिय संस्कृति उससे विमुख है । भौतिकता वादी दर्शन और उपभोक्तावाद ने एक नयी लोकप्रिय संस्कृति को जन्म दिया है । मास मीडिया ने एक अनैतिक, सौंदर्यात्मक, विलासपूर्ण, मनोरंजक साहित्य के प्रसार ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । हम क्या खाएँ, क्या पहनें, क्या खरीदें, क्या सोचें, क्या देखें, किसका अनुकरण करें, यह सब मीडिया तय करता है । राष्ट्रीय एकता हमें अमिताभ बच्चन और धर्मेन्द्र सिखाते हैं । देश के राग आत्मा के भाग से परे निकल गए हैं । लोकप्रिय संस्कृति में सेक्स, प्रेम, जीवन, मृत्यु, मनुष्य और सृष्टि, व्यक्ति और समाज की धारणाएँ बदल गयी हैं । भावनात्मक और आध्यात्मिक जीवन से शून्य, ये लोग वर्तमान समाज के ऐसे प्रवासी हैं जिनकी जड़ें नहीं हैं । वे भीड है । क्योंकि जन संचार और लोकप्रिय संस्कृति में मौलिकता नहीं होती । एकरूपता के कारण इससे नवीनता, वैयक्तिता और गहराई संभव नहीं । विज्ञापन के सर्वग्रासी प्रभाव से हमारी रुचि एक प्रकार की हो रही है, जो उससे अलग है वे हाशिए पर समझे जाते हैं । निजी संवेदना अपनी पहचान खो बैठी है ।

लोकप्रिय संस्कृति के केन्द्र में लेखक, कलाकार और बुद्धिजीवी नहीं होते, वरन् "शोबिज" के अदाकार होते हैं । जन संचार माध्यम किसी को भी हीरो बना सकते हैं उसके लिए विशिष्ट प्रतिभा संवेदनशीलता की नहीं शरीर के आकर्षण और उससे भी अधिक उसके प्रदर्शन का मूल्य है हीरो के लिए

सघर्ष, त्याग और तपस्या के मिथक नाकाफी हैं । "एण्टी हीरो" का उदय धूम-धाम से हो चुका है, वे हालात को अपने आदर्श के अनुरूप ढालने की कोशिश नही करते बल्कि स्वयं को उसके अनुरूप ढाल लेते हैं । और इसी को समय की माँग कहते हैं । मानव की जय यात्रा अपने पथ से विचलित हो गयी है । संचार माध्यम यथास्थितिवाद को प्रोत्साहन देते हैं ।

लोकप्रिय संस्कृति लोगों का ध्यान जटिल और विषम समस्याओं से हटाकर मनोरंजन कार्यक्रमों की ओर ले जाती है । मूलतः यह रवैया एक भौतिक विलासपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त संस्कृति का पोषण करता है जो न केवल साहित्य और उसके मूल्यों को नकारता है बल्कि उसका तिरस्कार भी करता है । वास्तव में लोकप्रिय सस्कृति नवयुवा, नवधनाढ्य और अर्धशिक्षित लोगों की संस्कृति के रूप में उदित हो रही है । संस्कृति के क्षेत्र में भी माँग और पूर्ति का सिद्धांत लागू किया जा रहा है, अतः उसे मूल्यों द्वारा अनुशासित करने का प्रश्न ही नहीं उठाया जा रहा है ।

इलेक्ट्रानिक्स ने ध्वनि के संसार को फिर से स्थापित कर दिया है, जो प्रिंट माध्यम से अधिक लोकप्रिय साबित हुआ है । इलेक्ट्रानिक मीडिया और कम्प्यूटर, ज्ञान तथा तथ्यों को संग्रहित, सुरक्षित तथा संचारित करने में सहायक है, जिससे ज्ञान का विस्फोट संभव है । कम से कम समय में हम अधिक से अधिक लोगों तक ज्ञान विज्ञान, कला और साहित्य को सम्प्रेषित करने में सफल हुए हैं । इस स्थिति ने इस आशंका को जन्म दिया है, कि साहित्य की विशिष्टता अब नही रहेगी और शायद उसकी जरूरत भी । जाहिर है, जब माध्यम बदलता है मनुष्य की मानसिकता भी बदलती है । मौखिक सम्प्रेषण के बाद इलेक्ट्रानिक मीडिया ने मनुष्य की मानसिकता में भी परिवर्तन ला दिया है । एल्फ्रेड डाफलर ने अपनी पुस्तकों "फ्यूचरशाप" और "द थर्ड वेव" में इसका विस्तार से जिक्र किया है । उसके अनुसार तथ्यों और ज्ञान में ही वृद्धि नहीं हुई है, वरन् उनकी संरचना भी बदली है । संसार में कहीं भी, जो कुछ भी हो रहा है, हम उसके साक्षी हैं । पुस्तकें बीती हुई घटनाओं को सम्प्रेषित करती हैं । पूरी दुनिया की सभी समस्याएँ हमारी समस्याएँ बनती हैं । साहित्य की समस्या यह है कि वह इस बदले हुए परिवेश और नई मानसिकता का बोध तो किसी हद तक दे रहा है लेकिन संवेदना सम्प्रेषित नही कर रहा है ।

इलेक्ट्रानिक मीडिया और यांत्रिकी ने सृजन-प्रक्रिया में कठिनाई उत्पन्न की है । *सम्प्रेषण का संबंध सर्जना से होता है और संचार का उत्पादन से* । संचार मे आवृत्ति और प्रसार है, संप्रेषण नहीं *संचार है जड़ द्वारा चेतन को संबोधन और सम्प्रेषण है चेतन का चेतन को सम्बोधन* । सृजन की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह अपने दर्शक श्रोता पाठक समाज को (ग्रहीता) *निष्क्रिय उपभोक्ता नहीं रहने देता,* स्वयं उसमें भी सृजन-क्षमता को जागृत-संवर्द्धित करता है । इसके विपरीत सचार माध्यमों ने आज के ग्रहीता को निष्क्रिय और अवश बना दिया है । अज्ञेय ने सृजन प्रक्रिया का जिक्र इस प्रकार किया है

जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है

उतना ही मैं प्रेत हूँ
जितना रूपाकार-सारमय दीख रहा हूँ
रेत हूँ ।
फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस उतना ही खेत हूँ ।

साहित्य की स्थिति में ग्रहीता का मन खेत जैसा माना जाता था जहाँ ग्रहीता अपने मनमोल अंकुर उगा सकता था । इलेक्ट्रानिक मीडिया पाठक की रचनात्मकता को बाधित करते हैं । सारी रचनात्मकता एक पक्षीय और थोपी हुई होती है । इस संबंध में एडमंड विल्सन और वैंजमिन का दृष्टिकोण था कि परम्परा से आवृत महान कलाकृतियों के सृजन के पीछे बहुत बड़ी मानवीय कीमत लगी । डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार साहित्य के विधायक तत्वों में प्रमुख है - *जातीय स्मृति का संरक्षण*[1] *इतिहास और वर्तमान की टकराहट में मूल्य प्रक्रिया का विकास*[2] तथा इनके साथ-साथ *सक्रिय भाषिक संवेदनशीलता*[3] / इन तीनों प्रक्रियाओं के मूल में लय और उसमें भागीदारिता का तत्व किसी न किसी रूप मे गतिशील है । और इधर दूरदर्शन ने लय को स्थापित करके तात्कालिक और एक पक्षीयता को चरम मूल्य स्वीकार किया है । यों दोनों के बीच अशमनीय विरोध की स्थिति बन गई है ।''

दूरदर्शन, खास दौर से रंगीन दूरदर्शन जब साहित्य को भी दृष्य बनाकर प्रस्तुत करता है, तो कुछ नितान्त नई स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । इसका परिणाम होता है संवादहीनता और मूल संवेदना से दर्शक का विचलन । दो उदाहरण देना जरूरी है । एक साहित्य और दूसरा संगीत से । काव्य पाठ में संवेदना का वाहक शब्द था, कुछ सीमा तक स्वर भी । दृष्य होने पर कवि कवयित्री का रंग-रूप, साज-सज्जा भी, और कहीं कहीं वही चर्चा का विषय हो जाता है । पहली टिप्पणी उसी पर होती है संवेदन या तो होता ही नहीं यदि होता भी है तो मूल बिन्दु से विचलित । एक बार तो दूरदर्शन में किसी विरह-कविता को बिल्कुल प्रोषितपतिका नायिका के अन्दाज में बाल खोलकर पढ़ते दिखाया गया था । संगीत में स्थिति कुछ ज्यादा ही चिन्तनीय है । अब आँख मूँदकर तन्मयता की भंगिमा किसी को अच्छी नहीं लगती । गायन अब झूम झूम कर, नाच-नाच कर किया जाता है । बाकायदा सेट, कभी-कभी तो काफी भड़कीले सेट लगाए जाते हैं । जाहिर है, स्वर साधन के स्थान पर सुदर्शन दिखना आवश्यक हो गया है । जो साहित्य और कला इन जरूरतों को पूरा नहीं कर सकते, वे पर्दे के पीछे चले जाते हैं ।

सांस्कृतिक आयोजनों में एक प्रकार की सामूहिक अनुभूति जुड़ी रहती है उसका तेजी से क्षरण हो रहा है दूरदर्शन दूर से दर्शन की सुविधा करते मुहैय्या

करते हैं, तो बाहर जाकर कार्यक्रम में शरीक होने की जहमत कौन उठाए ? अवसर चाहे कवि सम्मेलन का हो, संगीत संध्या का अथवा खेल के मैदान का । सब कुछ गर्म-सरद नियंत्रक कमरे में उतर आता है । हम चाय पीते गपियाते हैं, अखबार पढ़ते हुए उसका रसास्वादन करते हैं । इसका एक घातक प्रभाव यह हुआ है कि सामाजिक ही रचनाकार से नहीं कट गया है, रचना भी सामाजिक से कट गई है । कैमरे में दखते हुए सर्जक जैसे शून्य को संबोधित करता है । सामाजिक की आह, या वाह उसके कानों तक नहीं पहुँचती न ही उनका शीश चालन उसके रू-ब-रू होता है । ऐसी स्थिति में संप्रेषण की समस्या का उठना स्वाभाविक ही है । भरत से लेकर अभिनव गुप्त तक के साधारणीकरण की दुहाई न भी दे, तो भी रचनाकार, रचना, और पाठक के बीच एक समान भूमिका की तो आवश्यकता है ही । वह खंडित हुई । खेल के मैदानों में भी अब पहले जैसी भीड़ नहीं दीखती । लोग ठडे कमरों में लेटकर खिलाड़ियों को पसीना बहाते हुए देखते हैं । प्रत्यक्ष उत्साहवर्धन से खिलाड़ी वंचित हो जाता है, जिसका प्रभाव क्रीड़ा पर नहीं पड़ता यह नहीं कहा जा सकता ।

संचार माध्यमों से सबसे बड़ा खतरा भाषा को है और साहित्य का पूरा आकार ही रचनात्मक भाषा में है । प्रचार माध्यम कविता नहीं करते, परन्तु कविता की नकल जरूर करते हैं " वे उन अर्थआयामों को भी चुरा लेते हैं जो कविता ने भाषा में पैदा किए हैं और उन्हें अपने उत्पादन के साथ जोड़कर उसका आकार प्रकार और भार बढ़ा देना चाहते हैं । परन्तु कविता में जहॉ आत्मा की विश्वसनीयता की चिन्ता कवि को निरन्तर रहती है, प्रचार में वस्तु या विचार की विश्वसनीयता की चिन्ता लाभ के हद से ज्यादा घट जाने पर ही शुरू होती है- और वहाँ भी वस्तु का चेहरा बदलने की तरकीब सबसे पहले काम में लाई जाती है । भाषा की सच्चाई कहॉ अपने आप में कोई मूल्य नहीं है, जैसे कविता में होती है ।"

विज्ञापन की भाषा, जैसा कि रघुवीर सहाय कहते हैं, एक नए उखड़ेपन को झेल रही है क्योंकि अब वे रागात्मक मूल्य भी विज्ञापन का विषय बन गए है, जिनका प्रचार पहले कविता मूल्यों के समान करती थी । भारत की आजादी का प्रचार करने वाला विज्ञापन सचमुच की आजादी का प्रचार नहीं करना चाहता क्योंकि वह प्रचार आबादी के उपभोक्ताओं को भी आज़ाद कर देगा ।

चुनौती केवल लोकप्रिय संस्कृति की ही नहीं एक समानान्तर लोक संस्कृति की भी है । लोक संस्कृति का संबंध नगरीय संस्कृति से तो टूट ही गया है, स्वय लोक से वह छिटक गई है । हमारे लिए अब लोक संस्कृति वही है, जो दूरदर्शन और फिल्मों के माध्यम से दिखाई पड़ती है । रंगबिरंगे, अधखुले कपड़े और उत्तेजक नृत्य नुमा चीजें । यही है लोक संस्कृति । मिट्टी से जुड़ी स्थानीय रंगतें तेजी से विलुप्त हो रही है । स्वयं ग्रामीण जन भी इसी कृत्रिम लोक संस्कृति का अनुकरण कर रहे हैं जिसका प्रसार इला अरुण के कंठ से हो रहा है । असलियत यह है कि उस *दूरदर्शनी लोक संस्कृति में लोक आस्था का रक्त संचार नहीं है* चंद रंगीन कपड़े चुलबुली धुने और उत्तेजक शब्द लोक संस्कृति के नाम से परोसे जा रहे हैं

उदाहरण के लिए दूरदर्शन पर दिखाई पड़ने वाले भांगड़ा, होली या सावन गीत, जिनमें महिलाएं गोटे जरी के कपड़े पहनकर मटकती हैं । *विश्वास के तन्तुओं को काटकर यह संस्कृति लोक संस्कृति रह ही नहीं जाती* । होना तो यह चाहिए था कि इस भद्दी और फूहड़ नकल को दिखाने के बजाय दूरदर्शन गहन स्तर पर नगरो से अलग-अलग पड़े क्षेत्रों में जाता और तेजी से क्षरित होती उस संस्कृति और उसकी कला को सुरक्षित कर कम से कम एक प्रामाणिक दस्तावेज तो बना लेता। यदि हमें अनुकरण करने की आवश्यकता होती ही तो वह अनुकरण तो प्रामाणिक होता । भारत उत्सव की नकल पर विदेशों में बिकाऊ चीजों का प्रसारण, लोक सस्कृति की आत्मा को दूर-दूर तक स्पर्श नहीं करता । लेकिन सबसे बड़ा संकट तो संवेदनशीलता का है । कहते हैं संचार माध्यमों ने दुनियाँ बहुत पास-पास कर दी है । लेकिन संवेदन बहुत दूर-दूर कर दिए हैं । एक पूरा परिवार जब दूरदर्शन पर अंतरिक्ष यात्रा देखता है तो पास ही रोता हुआ बच्चा बहुत पराया हो जाता है । हिसापूर्ण दृश्यों ने बच्चों को भी न केवल संवेदन शून्य कर दिया है वल्कि उनमें रस लेने की क्रूरता भी उत्पन्न कर दी है । इसका विचित्र उदाहरण अमेरिका ईराक युद्ध मे दिखाई पड़ा । टी. वी. समाचारों में जब युद्ध के चित्र दिखाए जाते तो बच्चे तालियाँ बजाते थे । उनके लिए यह "एक्शन मूवी" ही थी, युद्ध का वीभत्स संसार नही । संचार शास्त्री दावा कर रहे हैं कि विश्व इतिहास में कृषि-क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के बाद यह तीसरी महत्वपूर्ण क्रान्ति है" सूचना क्रान्ति । अब इस तीसरी, और संभवतः सर्वाधिक तीव्रता से घटित होने वाली क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि अब सूचनाएं हमें तत्काल मिलती हैं । पर उन सूचनाओं से अनुभूति को निथार कर रचना तक ले जाना कठिन कार्य हो गया। यह सृजन प्रक्रिया धीरे-धीरे अपने ताप में घट रही है । अनुभव का अनुभूति में बदलना और कविता बन जाना यह एक लम्बी प्रक्रिया है, जिसे अज्ञेय ने कहा-

भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीते
एक मुक्ता रूप को पकते ।

श्री राम स्वरूप चतुर्वेदी ने संकेत किया है "प्रविधि पर बल संचार साधनो को बढ़ाएगा, और संचार-साधनों की बढ़त में कवि का विश्वास कविता पर से हटकर अपने बोलने पर होगा, जो चतुर्दिक यांत्रिक आवृंत्तियों के बीच शोर मचाना हो जाएगा ।"

टाफलर ने हमारे युग को भविष्य का धक्का कहा है । प्रविधि द्वारा बनता भविष्य जब एक धक्के के रूप में समाज को झकझोरता है तो रचना की संवेदनशीलता पिछड़ जाती है । प्रविधि का भविष्य धक्के के रूप में सामने आता है, जबकि साहित्य उसे धीरे-धीरे सिरजना चाहता है ।

यह है कि हमारा वर्तमान परिदृश्य, जिसके सहारे हम इक्कीसवीं सदी की चुनौतियो की कल्पना करते हैं कल्पना स्वय घुटनो घुटनो वर्तमान मे गढ़ी होती है यहा मैं एक प्रश्न आप सबके सामने रखना चाहती हूँ इक्कीसवी सदी की कल्पना

करते हुए हम यही क्यों सोचें कि हम इसी दिशा में आगे बढ़ेंगे ? उदाहरण के लिए ''फ्यूचरशॉक'' में बहुत सी धक्कामार बातों का जिक्र है, परन्तु पर्यावरण को लेकर जो संकट आज उठ खड़ा हुआ है, उसका जिक्र नहीं है । इसी प्रकार जार्ज आर्वेल जिन्होंने भविष्य की एक भयानक तस्वीर अपने उपन्यास १९८४ में प्रस्तुत की, लिखा है ''यदि तुम भविष्य की तस्वीर देखना चाहते हो, तो कल्पना करो, उस चेहरे की जिस पर अंकित है- जैकबूट की छाप हमेशा के लिए ।'' हक्सले की पुस्तक ''द ब्रेव न्यू वर्ल्ड'' में मनुष्य का निजत्व बिल्कुल नष्ट कर दिया जाता है । उसका निर्माण प्रयोजन के अनुसार किया जाता है । ऐसे समाज में कविता, कला और दर्शन के लिए कोई स्थान शेष नहीं है । इसी प्रकार एकसलर के उपन्यास ''द डार्कनेस एट नून'' में भी तानाशाही का दमन चक्र चलता है और अन्ततः उसके नायक को आत्महत्या करनी पड़ती है ।

ये, और इस तरह की अन्य रचनाएं एक प्रकार की ''योटोपिया'' ही है । कुछ कुछ उसी प्रकार की जैसे हमारे धार्मिक ग्रन्थों का कलियुग वर्णन । यदि इसका कुछ अंश भी सच हो तो भी साहित्य समाप्त हो जाएगा, इसकी संभावना नहीं है । समकालीन साहित्य के रुझान तो कुछ दूसरे ही संकेत कर रहे हैं । इस सदी के अन्त में उत्तराधुनिकतावाद जन्म ले चुका है । यथार्थ के घटाटोप अंकन ने उसके भीतर से इस प्रवृत्ति को जन्म दिया है, जिसमें भाषा अपनी जड़ों की तरफ लौट रही है । साहित्य में दक्षिणी अमरीकी और अफ्रीकी साहित्य की प्रासंगिकता रेखांकित हुई है। पिकासो के संबंध में यह कहा जाता है कि जब उन्हें यूरोप में प्रेरणा नहीं मिल रही थी, तब वे अफ्रीकी संस्कृति की ओर मुखातिब हुए । उन्होंने अफ्रीका की आदिम कला को उठाया और उसे अपनी कला का अंग बना लिया । फलस्वरूप पिकासो की तरफ तुरन्त लोगों का ध्यान गया । कला में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हुई । हिन्दी कविता में संवेदनशीलता दिखी है, वह कुछ इसी परिवर्तन का पूर्वाभास है । कविता में गीत और गज़ल के साथ दोहा भी वापस लौटा है, एक यात्रा पूरी करके ।

कल जिसे हम समाप्ति का प्रमाण पत्र छाप रहे हैं शायद और वेग तथा संवेदन के साथ हमारी ओर लौटेगा । मैं अपनी बात फिर रामचन्द्र शुक्ल के कथन से समाप्त करना चाहूँगी -

''मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी न किसी रूप में पाई जाती है । चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा । बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला सा रहता है । इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है । इसी की अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ चली आ रही है और चली चलेगी । जानवरों को इसकी जरूरत नहीं ।''

(कविता क्या है ?- रामचन्द्र शुक्ल

◆ ◆ ◆

हिन्दी कविता : पिछले दो दशक

साठोत्तरी हिन्दी कविता की सबसे बड़ी रचनात्मक प्रवृत्ति चिन्तन और सृजन दोनों ही क्षेत्रों में तलाश की मानी जा सकती है सन् साठ से पहले तीसरे सप्तक के प्रकाशन के साथ ही नयी कविता अपनी सार्थकता की उपलब्धि कर चुकी थी, जिसकी एक अनिवार्य परिणति तो यह हुई कि काव्यात्मक सरोकारों का क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ । छायावादी के पेस्टोरल संसार और प्रगतिवादी के सकरे राजनैतिक संसार की जगह एक सीधे मानवीय संसार ने ले ली । एक ऐसे संसार ने जो हम सबका जाना पहचाना संसार है और जिसमें हम दरअसल रहते हैं अपनी सारी जटिलता अन्तर्विरोधों और तनावों के साथ वास्तविक संसार का, जिसमें हम रहते हैं, बखान, परिभाषा और व्याख्या युवा कवि का कर्म हो गया । मानवीय तात्कालिकता, जिसे नई कविता की चारित्रिक विशेषता मान लिया गया है, बहुत कुछ उसके मुहावरे में निहित है । कविता में बिल्कुल नई तरह से बात-चीत की लय पैदा की गई है । इस लय के साथ कविता संसार में टटके लोक-बिंब ताजे प्रतीक नए फार्म और आम आदमी की रोजमर्रा जिन्दगी की रंगारंग मुद्रायें नई सवेदना को उपलब्ध हो गई थी ।

लेकिन सन् साठ के बाद जैसे कई स्तरों पर मोह भंग की प्रक्रिया आरम्भ हुई । इस मोहभंग और तलाश की एक झलक उन विविध आन्दोलनों में देखी जा सकती है जो नई कविता के तुरन्त बाद उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उभरकर सामने आये थे । होने को एक तो डॉ. जगदीश गुप्त ने चवालिस नामों की सूची गिनाई थी और उनके निकट भविष्य में बढ़ जाने की शुभाशंसा भी व्यक्त की थी । कुछ झलकियाँ दृष्टव्य हैं :-

१.	सनातन सूर्योदय कविता	२.	अपरम्परावादी कविता
३.	सीमान्तक कविता	४.	युयुत्सावादी कविता
५.	अस्वीकृत कविता	६.	अकविता
७.	अन्यथावादी कविता	८.	विद्रोही कविता
९	सुत्कातर कविता	१०	कबीरपन्थी कविता

१९. निर्दिशामयी कविता
२०. लिग्वादलमातकादा कविता
२१. एब्सर्ड कविता
२२. गीत कविता
२३. नव प्रतिवादी कविता
२४. साम्प्रतिक कविता
२५. बीट कविता
२६. अधुनातन कविता
२७. ठोसवादी कविता
२८. कोलाज कविता
२९. बोध कविता
३०. मुहूर्त कविता
३१. द्वीपान्तर कविता
३२. अतिकविता
३३. टटकी कविता
३४. ताजी कविता
३५. अगली कविता
३६. प्रतिबद्ध कविता
३७. शुद्ध कविता
३८. स्वस्थ कविता
३९. नंगी कविता
४०. गलत कविता
४१. सही कविता
४२. प्राप्त कविता
४३. सहज कविता
४४. आँख कविता ।

जाहिर है इन और इनके अतिरिक्त अन्य नामों को बहुत गंभीरता से नही लिया जा सकता । लेकिन इसमें भी सन्देह नहीं कि ये अकारण नहीं उठे । अपनी सारी उपलब्धियों के बावजूद नई कविता का जो मैनेरियम विकसित हो गया था उसमें परिवर्तन की जरूरत सिद्दत के साथ महसूस की जा रही थी । सातवें दशक के बीच भारतीय राजनीति और जनजीवन में गहरे उतार चढ़ाव आये । सूखा, भुखमरी, निम्नमध्यवर्ग का असन्तोष, जन-आन्दोलनों में तेजी, प्रान्तों के विघटन, शासक पार्टी में आन्तरिक कलह, रुपए का अवमूल्यन, औद्योगीकरण में अवरोध ६७ के चुनावों में अनेक प्रान्तों में कांग्रेस का पतन और गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का बनना और गिरना । मध्य वर्गीय व्यक्ति नेतृत्व द्वारा थमाये गये आश्वासनों पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा बँधाई गई स्वर्णिम भविष्य की कल्पनाओं की गिरफ्त से अभी छुटकारा नहीं पा सका था । चीनी आक्रमण एक तेज झटके की तरह घटित हुआ और डॉ० माहेश्वर के अनुसार इसके साथ ही बुर्जुआ संसदीय गणतंत्र के साथ जुड़े तमाम जन विरोधी मूल्यों का मिथ टूट जाता और देखते-देखते सामाजिक आर्थिक राजनैतिक और साहित्यिक मूल्यों का एक मजबूत सा लगता ढाँचा चरमरा कर जमीन पर आ जाता है ।

सन् साठ के बाद की कविता धारणात्मक सतह पर ही नहीं अपने दृष्टिकोण और विधान में भी काफी बदली हुई है । यह तो कविता नहीं । यह केवल खून सनी चमड़ी उतार लेने की तरह है । यह केवल रस नहीं जहर है जहर ।

- दूधनाथ सिंह

सातवें दशक की कविता की अनेक मुद्राओं में खास मुद्रायें उभर कर सामने आई थी जिसे कभी प्रतिबद्धता और   का नाम दिया जाता है

और कभी साहसिकता और नग्नता का । सीधे-सीधे हम इसे अकविता और वाम-कविता का नाम भी दे सकते हैं ।

अकविता को नई कविता से पृथक एक स्वतंत्र आन्दोलन के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न सातवें दशक में आरम्भ हुआ । जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, मणिका मोहिनी, नरेन्द्र धीर, मलयज, राजकमल चौधरी और चन्द्रकान्त देवताले आदि के नाम जिसमें लिये जा सकते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि अकविता के मूल स्रोत आयातित हैं । भय-रूप संचेतना से मुक्ति पाने के लिए अमेरिका के हिप्पी और बीटनिक कवियों ने जिस वर्ग के नेतृत्व में जिन पलायन वादी, रास्तो की खोज की थी उसमें मादक औषधियों का सेवन, तर्क, बुद्धि, व्यवस्था का विरोध, अनियंत्रित अमर्यादित मुक्त यौन-सम्बन्ध, रतिक्रीड़ा एवं अश्लीलता प्रमुख थे । आन्द्रेवेतन ने अतियथार्थवाद की परिभाषा करते हुए दो मुख्य मुद्दों की ओर संकेत किया था । तार्किक नियंत्रण का अभाव और विशुद्ध मानसिक स्वचालन । अकविता पर इन दोनों बातों का ही तीव्र प्रभाव है । इसे अन्तर्विरोधों की अन्वेषक कविता की संज्ञा भी दी गई है ।

अपने प्रकृत रूप में अकविता हिन्दी कविता का एक नया तेवर थी जो एक अलग प्रकार के अन्दाज की पहचान करती है जिसका तात्कालिक स्रोत युगीन परिवेश और घोर मानसिक दबाव था । इसमें सन्देह नहीं है कि अकविता महानगरो की कविता है इसके मूल में सौंदर्य बोध का एक इतना तेज बदलाव था जो लगभग कविता को असन्तुलित कर देता है । जगदीश-चतुर्वेदी के अनुसार अकविता अस्वीकृति और निषेध की अनिवार्यता को सहज मानकर स्वीकार करती है उसे किसी प्रकार के व्यामोह या अतीतोन्मुख वैभव अथवा रागात्मकता से तीव्र घृणा है। अथवा मुद्राराक्षस का यह कथन जो साहित्यकार कुछ बनाने या स्थापित करने मे रुचि लेता है वह लेखक नहीं होता । लेखक वही होता है जो सिर्फ तोड़ता है और लूटता है - भंजन करता है चाहे शील हो या मूल्य । अकविता ने भाषा और मुहावरे में तल्खी जरूर पैदा की पर यह कविता जीवन के यथार्थ से कटती चली गई एक कुंठित और आरोपित यथार्थ उस पर हावी होता चला गया और एक धमाका पैदा कर वह स्वतः समाप्त हो गई ।

सातवें दशक की दूसरी-और निश्चित रूप से अधिक प्रभावात्मक कविता उग्र और आक्रामक मुहावरे की कविता है - जिसे प्रायः वाम-कविता का नाम दे दिया जाता है । समकालीन विद्रोह इसमें ठोस तरीके से उभर कर सामने आया है। प्रगतिवादी आन्दोलन से अलगाते हुए डॉ० यश गुलाटी यह स्थापित करना चाहते है कि पूर्ववर्ती आन्दोलन रूसी क्रांति से प्रभावित था और वाम-कविता चीनी कृषक क्रान्ति से । सिर्फ रचनाओं के आधार पर इस प्रकार का अलगाव करना मुमकिन नही है दूसरी कुछ और चीजें हैं जो इस बात को साफ करती हैं ।

वाम कविता की मूल चारित्रिक विशेषता जो धीरे धीरे विकसित्त होती हुई क्लाइमेक्स का निर्माण करने मे सक्षम हुई राजनीति की जुगलबन्दी है यह

सच है कि राजनीति एक अलग स्वतंत्र इकाई बनकर जाहिर नहीं होती वरन् समूचे तात्कालिक परिदृश्य का अंग बनकर सामने आती है । क्योंकि समकालीन सचाई, राजनैतिक कर्म इच्छा और तथ्यों से उलझी सचाई है और बिना राजनीति से दो चार हुये उसका साक्षात्कार अधूरा और अप्रमाणिक रहेगा । राजनीति से सुरक्षित ससार इच्छित संसार है अतीतजीवी या भविष्यत् पर समकालीन संसार नहीं ।

वाम-कविता, कविता को सिद्धान्ततः एक हथियार के रूप में स्वीकार करती है परन्तु उसकी विफलता से धारणात्मक अवमूल्यन के नमूने भी खूब मिलते है -

कविता / शब्दों की अदालत में / मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का हलफनामा है ।

अथवा -

कविता में जाने से पहले / मैं आप से पूछता हूँ / जब इससे न चोली बन सकती है, न चोगा / तो आपे कहो / इस सुसरी कविता को जंगल से जनता तक ढोने से क्या होगा / आपे जबाव दो / मैं इसका क्या करूँ ।

इस आन्दोलन की एक अनिवार्य परिणति यह हुई कि कविता और कविता से बाहर भी एक उग्र आक्रामकता एवं हिंसा का आक्रोश मिलता है :-

मेरे पास / अब सिर्फ वह अन्तिम कविता रह गई है / जिसमें बारूद घर मे आग लगने की सूचना है ।

अथवा -

तुम्हें दो चार की खुशी के लिए
प्यारा है हजारों की मौत का कानून
और हमें लाखों करोड़ों की खुशी के लिये
प्यारा है दो चार का खून
मैं हत्यारा हूँ
कबूल है मुझे यह इलजाम

- हरिहर द्विवेदी

अकविता हो या वाम कविता विद्रोह और आक्रोश दोनों के मूल में है, परन्तु उनमें एक बुनियादी अन्तर है । अकविता अपना सारा विद्रोह देश की राजनीति के माध्यम से व्यक्त करती है, केवल अपने अहं के स्तर पर, एक मारक मुहावरे के जरिये । मुक्ति प्रसंग की ये अन्तिम पंक्तियाँ इस युद्ध के सिद्धांत को अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं -

आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतांत्रिक पद्धतियाँ / केवल पेट के बल / उसे झुका देती है धीरे-धीरे अपाहिज / धीरे-धीरे नपुसंक बना लेने के लिये उसे शिष्ट राजभक्त देश प्रेमी नागरिक बना लेती है / आदमी को इस लोकतन्त्री ससार से अलग हो जाना चाहिये / चले जाना चाहिए कस्साबो गाजाखोर

साधुओं, भिखमंगों अफीमची रंडियों की काली और अंधी दुनियाँ में मसान, में अधजली लाशें नोंच कर / खाते रहना श्रेयस्कर है जीवित पड़ोसियों को खा जाने से / हम लोगों को अब शामिल नही रहना है इस धरती से आदर्श को हमेशा के लिए खत्म कर देने की / साजिश में ।

निश्चय ही 'साजिश में शामिल न होने' मात्र की अपनी प्रतिशत्रुता से ही कवि सन्तुष्ट हो जाता है जबकि एक विद्रोही कवि के लिए यह भी आवश्यक है कि वह इस साजिश के विरोध में एक सार्थक शब्द भी रखे और उसके प्रति अपनी पक्षधरता स्पष्ट करे, जैसा कि मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, धूमिल आदि की कविताओं में यह दृष्टिगत सार्थकता स्पष्ट दिखलाई देती है । वाम कविता की लड़ाई एक निश्चित लक्ष्य की लड़ाई है, एक सामूहिक लड़ाई है, क्योंकि एकाकी लड़ाई का अन्त उससे छिपा नहीं है -

अकेला आदमी जब
एक तंत्र के खिलाफ लड़ता है
तो अपने सारे हथियारों के बावजूद
एक काले पहाड़ से
निहत्था लड़ाई करता है
और अन्त में एक दिन
अपने ही लहूलुहान चेहरे से डरता है
इस तरह छोटी-छोटी अकेली लड़ाइयाँ लड़ते हुए
कितने ही हाथों से हथियार छूट जाते हैं
और एक फैसला चुन लड़ाई से पहले ही
कितने बुलन्द हौसले टूट जाते हैं

काव्य ही नहीं समूची रचनात्मकता के स्तर पर सातवाँ दशक गैर रोमानी-चेतना का समय रहा है । वाम कविता का मुहावरा जितना धार-दार सहज और आम आदमी का मुहावरा बन सका है उतना पहले सम्भव नहीं हुआ था । वस्तुतः सातवें दशक की कविता अस्वीकार से आरम्भ होकर विद्रोह और क्रान्ति तक फैलती कविता है जो प्रतिपक्ष की भूमिका ही नहीं निभाती एक सबल सार्थक सामान्तर पक्ष की भूमिका भी प्रस्तुत करती है । सातवे दशक की कविता ने केवल विद्रोह और हिंसा का ही समर्थन नहीं किया है । उसकी प्रतिबद्धता भी बिल्कुल स्पष्ट है । भाषा के हल्के में बेशक यह सर्वनामी हल्ला हो पर सर्वनामों का प्रयोग किनके लिये है इसमें किसी प्रकार संशय की गुंजायश नही है । इसका कारण यह है कि कविता का नायक निम्नवर्ग तथा निम्नमध्यम वर्ग है । राजनीतिक रूप मे अपनी प्रतिबद्धता को स्पष्ट न कर पाने वाले कवियों में भी भीड़ के प्रति आसक्ति और अपनत्व का भाव है क्योंकि वह जानता है कि वह भी इसी भीड़ का अंग है। इसीलिए विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी सातवें दशक के कवि को भीड का कवि कहते

है- जिस कवि को युवा पीढ़ी का कवि कहा जाता है उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह भीड़ से अपना तादात्म्य कर सका है । मैं इसे कविता का जन तांत्रिकीकरण कहता हूँ ।

अस्तु यह माना जा सकता है कि सातवें दशक की कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि रही है - काव्यजगत के सीमान्तों की समाप्ति और वर्जनाओं का पूर्ण वहिष्कार । परन्तु यह मानना भी गलत होगा कि उसकी सीमायें नहीं रहीं हैं । वाम कविता की एक बड़ी कमजोरी यह रही है कि इसके रचनाकार ने मनुष्य को मात्र राजनीतिक प्राणी समझ लिया है, उसे गैर आर्थिक सम्बन्धों के प्रति कोई आकर्षण दिखाई नही देता, नतीजे के तौर पर यह कविता कभी-कभी कोल्हू के बैल की तरह एक ही आवर्त में घूमने का अहसास देती है । हालांकि सच यही है कि कविता से प्रतिबद्धता की माँग उसकी कविता होने की माँग से छूट नहीं है । साहित्य की मूल प्रकृति की उपेक्षा करते हुए उसकी कलात्मक जरूरतों को नकारना उसे पोस्टर या नारेबाजी के स्तर पर उतार देना मार्क्सवादी दृष्टि से भी दुरस्त नहीं है । वे कलाकृतियाँ जिनमें कलात्मक प्रतिभा का अभाव होता है बिल्कुल शक्तिहीन होती हैं चाहे वे राजनैतिक दृष्टि से कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हों । इसीलिए वाम कविता के लिए भी यह कहा जाता कि सही कलात्मक अभिव्यक्तियों की संख्या इसमें सीमित ही है और उसके बड़े अंश पर सूक्तियाँ खबर देने के अन्दाज, तुकों की लटके बाजी, मजमेवाज मुद्रायें और शब्दों से चुहल की प्रवृत्ति ही हावी लगती है ।

आठवां दशक हिन्दी कविता के लिए कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है । कविता फिर से साहित्य की केंद्रीय विधा हो गई है, इस कथन को चीजों के साथ किसी भी प्रकार जोड़ा जाये । इसकी अहमियत है । अगर यह चालू मुहावरा भी हो तो इतिहास की प्रक्रिया ने स्वयं उसे गढ़ा है और उसे नजरन्दाज नहीं किया जा सकता । इस दशक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कविता की वापिसी का मुहावरा उछाला गया और गरमा-गरम वहसें छेड़ी गई । इस बीच बहुत सी अन्य बातों के साथ कविता की बिक्री और खरीद को लेकर भी बहुत सी बातें रची गई हैं । देखने की बात यह है कि सातवें दशक की कविता से हटकर क्या कुछ विकसित हुआ है जिसे आठवें दशक की कविता की संज्ञा दी जा सकती है । नई कविता में अलग हटकर साठोत्तरी कविता ने अपनी पहचान बनाई थी । आठवें दशक की कविता का चरित्र प्रारम्भिक वर्षों में बनना शुरू हुआ और शीघ्र ही उभरकर सामने आने लगा ।

आठवें दशक का प्रारम्भ धूमिल के संसद से सडक तक (१९७२) से होता है अपने में यह तथ्य काफी महत्वपूर्ण है । अस्तित्ववादी और अकवितावादी मुहावरे से हटकर आम आदमी से जुड़ने की जागरूक कोशिश ने कविता को सार्थक वक्तव्य बना दिया है । कविता राजनीति से जितनी तेजी के साथ जुड़ी है वह देखने की चीज है ।

इस जुडाव में कविता को एक नई भंगिमा दी है और नये मुहावरे को विकसित किया है । परिणाम स्वरूप कविता की प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन आया ।

प्रयोगवाद को मोहभंग कहा गया था नई कविता भी मोहभंग की कविता थी । सातवें और आठवें दशक की कविता भी मोहभंग की ही कविता है हर टूटा हुआ मोह एक नए प्रकार के मोह को जन्म देता है, जिसके चारों तरफ जिन्दगी धीरे-धीरे जुड़ने लगती है । इस टूटने और जुड़ने की साक्षी कविता पूरी तरह से रही है । निषेध, आक्रोश और ध्वंस अपने रचनात्मक पहलू रखते हुए भी मोहभग की प्रक्रिया के शिकार हुये हैं -

क्या दिया तुमने / महज जयहिन्द / फकत फाकाशाही / आँकड़े, बस आसमानी/ आँकड़े और / गुत्थम गुत्था / राशन की कसी कतारें बेरोजगारी /

- केशनी प्रसाद चौरसिया

सातवें दौर के क्रुद्ध-आक्रोशी-तूफानी दौर के बाद, आठवें दशक की कविता में सन्तुलन का विकास हुआ है और इस माने में हिन्दी कविता सही अर्थों मे वयस्क हुई है और उसने समझदार चुप का सहारा भी लिया है । हम देखते है कि समकालीन कविता में कविता परिवेश का चित्रण नहीं है । केवल परिवेशगत यथार्थ के बयान से कविता नहीं उपजती । इस दृष्टि से आज की कविता है । सच तो यह है कि आज की कविता ने एकायामी मुहावरे को तोड़ा और नई किस्म की सभावनाओं को विकसित किया है ।

अब कविता के स्वायत्त संसार की बातें कोई नहीं करता । अनुभव की स्वायत्त-निरपेक्ष सत्ता आधुनिक स्थितियों के दबावों के तहत अपना अर्थ खो चुकी है । अनुभव की प्रामाणिकता के बहाने कविता में अनुभव को निरपेक्ष रूप में प्रस्थान बिन्दु मानकर चलना और उसे ही कविता की चरम परिणति करार कर देना बेईमानी है और आज की कविता इस अनुभववादी धारणा को तोड़ रही है ।

नहीं / अब जरूरी हो गया है / ले लेना निर्णय / क्योंकि सांस लेने भर की राहत के लिए की / हमें यह सारी सख्त चट्टानें तोड़नी होंगी -

- उग्रसेन सिह

सातवें दशक की कविता का विद्रोही कवि या तो महानगरीय कुंठाग्रस्त अकवि था, अथवा राजनैतिक उग्रपंथी । लेकिन आठवें दशक की कविता का नया तेवर विकसित हुआ यह एकायामी व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है -

आखिर हवा किसनियाँ कहारिन तो नहीं मालिक
जो कराहती हुई
चौका-बासन करे आपका
आखिर धूप सुरजा तो है नहीं मालिक
जिसकी कमीज आप गुस्से से फाड़ दें
जिसकी काली-पीठ पर
अपनी चिलमची के गुल झाड दे

उदय प्रकाश

समकालीन कविता बिम्बों के विरुद्ध जिहाद नहीं छेड़ती और न ही किसी भी प्रकार की संवेदना को रोमानी गन्ध कह कर दुर दुराती है -

बहुत ही नन्हें-नरम दो हाथ
छू रहे हैं पीठ-गर्दन-माथ
खांसियों में फेफड़े का दर्द ढलता है
दिन निकलता है ।
-शलभ श्रीराम सिंह

समकालीन कविता अनुभव और अनुकरण में एक निश्चित अन्तर सूचित करती है । मुक्तिबोध ने जिसे बाह्यजगत का आभ्यान्तरीकरण कहा था इस दशक में घटित हो सका है । अपने आस-पास के परिवेश के साथ समकालीन कविता पूरी तेजी और शक्ति के साथ टकराती है, और उससे जो ऊर्जा उत्पन्न होती है वह रचनात्मक समझ और भाषा का बिल्कुल नया नमूना है । यह सिर्फ कुशलता के कारण नहीं - संवेदनात्मक शिराओं पर एक नये गहरे दबाव के कारण भी है पहले वे एक अलंकरण ही थे, अब वे अपने आप एक स्वायत्त स्थिति में भी व्यवस्था और व्यक्ति के बीच गहरे तनाव को चरितार्थ करते हैं । जिस अनुपात में यह प्रतिक्रिया सजगता बढ़ी है, उसी अनुपात में अतवर्य सपाटता और शब्द स्फीति निरी साहसिकता के प्रदर्शन, चतुर सूक्तिप्रियता का आतंक कम हुआ है ।

जब हम कहते हैं कि समकालीन कविता अपनी जड़ों के करीब पहुंच रही है, तो हमारा मतलब होता है कि वह अपनी शक्ति सीधे धरती से सोख रही है । भाषा के स्तर पर इसका अर्थ होगा कि वह शासन और शासक दोनों को अस्वीकार है । नये और एकदम अपरिचित शब्द कविता में अतिथि की तरह नहीं, बल्कि चौकन्ने सृजक की समझ को सामाजिक संरचना के संदर्भ में व्यापक व पुष्ट करने के लिए उपजे हैं ।

आपात्काल की घोषणा (जून ७५) आठवें दशक की एक महत्वपूर्ण घटना थी । इस काल की कविता में भी एक गुम हुई फिजा का अहसास होता है। घुटन इतनी है कि तूफान के लक्षण साफ दिखाई देते हैं । कविता मौन और संकेत शील हुई है । लेकिन दूसरी आजादी भी कुछ नहीं दे सकी एक और मोहभंग के सिवाय । आदमी बदले, पार्टी या पार्टियाँ बदली, थोड़ा रख-रखाव बदला, लेकिन शासन का चरित्र नहीं । इसलिए आठवें दशक की कविता हर तरह से अपने परिवेश की कविता है रचना शीलता को इस विशिष्ट चरित्र से जुड़कर देखने पर ही हम इस घटना को समझ सकेंगे कि पुराने कवि फिर से आठवें दशक में प्रासंगिक क्यो हो उठे हैं । डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है कि यह सींग काटकार बछड़ों में मिलने की प्रक्रिया नहीं है वरन् कविता में नये नाखून पैदा करना है ।

गिरिजा कुमार माथुर मे प्रारम्भ से ही रोमानी प्रवृत्ति और साद्र भावुकता प्रखर रही है के पाचवे कवि के रूप मे भी उनकी यही पहचान और

गहराई से पेबस्त हुई थी । लेकिन 'साक्षी रहे वर्तमान' की कवितायें बिल्कुल नई जमीन तोड़ती है । अपनी पूरी कुशलता और जटिलता के साथ वे यथार्थ से प्रत्यक्ष सवाद दहै ।

> *मेरे भीतर / हर वक्त एक अधनंगा आदमी / घिसटता हुआ सड़कों की कोढ़ पर / कहता है / वक्त अब नहीं है / मेरे भीतर / हर वक्त एक पुश्तैनी राजरोगी / हाथीदांत के बेपेंदे फ्रेम में / बीमार हँसी हँसता है / सोने मढ़े दांतों से कहता है / वक्त अभी बहुत दूर है ।* - **गिरिजा कुमार माथुर**

केदारनाथ सिंह भी नई कविता के गीति धामों के रूप में जाने जाते रहे है । उनकी प्रसिद्धि तीसरे सप्तक के कवि रूप में भी है । लेकिन अपने पहले काव्यसंग्रह से लगभग वीस वर्ष बाद प्रकाशित उनका नया काव्य संग्रह 'जमीन पक रही है' उनकी काव्य-चेतना का विस्फोट ही कहा जायेगा । कविता के पाठकों के लिए यह तथ्य भी मनोरंजक सिद्ध हो सकता है कि एक ही वर्ष में इसके दो सस्करण प्रकाशित हुए हैं । जीवन के घोर और कंटीले यथार्थ के साथ, पारदर्शी एन्द्रिकता हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है । वैचारिक टकराव से यह कविता गहरे स्तर पर जुड़ी है और उसमें वह पूरी शक्ति के साथ शामिल । इस भ्रम मे हमें रोटी, बैल और आलू जैसी जानी-पहचानी वस्तुओं के माध्यम से मानव-विरोधी शक्तियों के बरबस उसकी कल्पनाशीलता और साहस का आत्मीय संघर्ष करती है -

> *चुप रहने से कोई फायदा नहीं / मैंने दोस्तों से कहा और दौड़ा / सीधो खेत की ओर / कि कहीं शब्द पक न गये हों / यह दोपहर का समय था / और शब्द पौधों की जड़ों में सो रहे थे / खुशबू यहीं से आ रही थी - मैंने कहा / यही यहीं शब्द यहीं हो सकता है ? जड़ों में ।*

तारसप्तक के कवि भारतभूषण अग्रवाल (मृत्यु १६७५) भी इसी अर्थ मे चर्चित हुए हैं । राजनीति तंत्र की बनावट कसावट और उसकी वहुरंगी प्रदर्शनियो के बीच कवि सीधा मुखातिव होता है -

> *भाइयो / सहधर्मियों / सुनो, तुम्हें मन की एक बात वतलाता हूँ / सूरज का कोई सबस्टीट्यूट नहीं है / यहाँ तक कि चाँद भी / जितना उजला है / उतना वह सूरज है ।*

जब यह कहा जाता है कि आठवां दशक कविता की वापिसी का दशक है तब यह भी भूलना नहीं होगा, कि कविता की वापिसी का अर्थ कविता में कविता की वापिसी भी है । इस सन्दर्भ का अर्थ कविता में कविता की वापिसी भी है । इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि शोषण बन्दूक, रक्त, क्रान्ति गोली, आग जैसे शब्दो के बाद कविता माँ, पिता, बच्चा, पेड़ चिड़िया, जैसे आत्मीय शब्दों पर लौटी है । परन्तु भूलना नहीं होगा कि इस कविता में घरेलू चीजें मामूली लगने वाले मानवीय अनुभवों और व्यवहारों के माध्यम से उस व्यापक यथार्थ की अभिव्यक्ति हो रही है जिसमे सामान्य मनुष्य अपनी के साथ अगली लड़ाइयो के लिए तैयार

हो रहा है । समकालीन कविता की एक उल्लेखनीय शक्ति यह है कि उसमें छोटे और साधारण लगने वाले अनुभव बड़े और स्तरबहुल अनुभवों से जुड़े हैं और उनमें व्यक्तिगत पीड़ाओं के माध्यम से राजनैतिक यातनायें सामने आई हैं । इसलिए इस कविता संसार में पेड़ सिर्फ पेड़ नहीं है चिड़िया भी सिर्फ चिड़िया नहीं है -

उसने कभी सोचा कि मेरा नाम चिड़िया है / जो घोड़े की नसों में फँसी हुई घोड़े की आँख से प्रकाश देखती है / और उड़ जाना चाहती है / जो आदमी की नसों में उड़ाने मारती हो जाना चाहती है / उसने कभी नहीं सोचा कि मेरा नाम चिड़िया है । **- लीलाधर जगूड़ी**

सातवें दशक की कविता में स्त्री का अवमूल्यन खूब हुआ है अकविता का तो मुख्य मुद्दा ही यही लगता है, परन्तु धूमिल जैसे प्रगतिशील कवि भी कहने से चूकते नहीं -

हर लड़की तीसरे गर्भपात के बाद धर्मशाला हो जाती है ।

अथवा

औरतें, योनि की सफलता के बाद, गंगा का गीत गा रही हैं ।

लेकिन आठवें दशक की कविता में औरतें भी एक लम्बे निर्वासन और बेहूदे सामान्यीकरण के बाद लौटी हैं आदमी के बगल में उसी के समान संघर्षरत । उदाहरण के लिए केदारनाथ सिंह की एक प्रेम कविता को पढ़कर स्मरण किया जा सकता है कविता का अन्त स्त्री को एक चुनौती के रूप में प्रस्तुत करता है-

उसके आगे कोई पंक्ति नहीं थी
कोई शब्द नहीं था कविता में उसके आगे
सिर्फ स्त्री थी
सिर्फ उसके कन्धे
उसकी पीठ
उसकी आवाज-सिर्फ स्त्री की
जो पूरी-की-पूरी
अब कविता के बाहर खड़ी थी
और कविता को ध्वस्त कर रही थी।

कविता के शिल्प को लेकर एक तथ्य उल्लेखनीय है । वह है महाकाव्योचित ऊर्जस्विता एवं संरचनात्मक नाटकीयता की स्थानापन्न विधा लम्बी कविता का स्वतंत्र रूप से विकास । नई कविता की वृत्ति छोटी कविताओं की थी, जिसका चरम विकास अज्ञेय की हाइकू शैली में देखा जा सकता है । परन्तु निराला और मुक्तिबोध में पनपती हुई लम्बी कविता इन दशकों में अनन्त सम्भावनाओं मे युक्त हुई हैं । यह एक जटिल विविधता पूर्ण कविता संसार है जो समकालीन यथार्थ से अनेक स्तरों पर टकराता है । एक अन्य विशेष घटना आठवें दशक के कविता

संसार (जिसमें कवि और पाठक दोनों शामिल हैं) का चरित्र स्पष्ट करती है । वह है मुक्तिबोध (भूरी-भूरी खाक धूल १९८०) एवं धूमिल (कल सुनना मुझे - १९७७) के कविता संग्रहों का प्रकाशन । ये दोनों ही कविता संग्रह कवियों के मरणोपरान्त प्रकाशित हुये हैं । जिनके पहले कविता संग्रह ने ही कवियों को एक संस्था के रूप में स्थापित कर दिया था उनकी शेष कविताओं को पढ़ना कुछ माने रखता है कम से कम इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि उनकी पूरी कविता पूरी सच्चाई के साथ आठवें दशक की लड़ाई में शामिल है । अपनी प्रचण्ड सर्जनात्मक ऊर्जा के कारण कवितायें मन को झकझोरती भी हैं और समृद्ध भी करती है । यह आकस्मिक नहीं है कि अपनी मृत्यु के सोलह वर्ष बाद भी मुक्तिबोध हिन्दी के सर्वाधिक चर्चित कवि हैं ।

संदर्भ

१. अशोक बाजपेयी, फिलहाल पृ. १६०
२. नई कविता, डॉ० जगदीश संख्या ८
३. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन कविता का व्याकरण पृ. १७
४. अशोक बाजपेई, फिलहाल, पृ. ७
५. डॉ० श्याम परमार, अर्थ ३
६. डॉ० जगदीश चतुर्वेदी, इतिहासहन्ता आत्मकथ्य
७. डॉ० जगदीश गुप्त, नई कविता ८ में उद्धृत
९. डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, समकालीन कविता की भूमिका पृ. १४
१०. डॉ० यश गुलाटी, कविता और संघर्ष चेतना
११. अशोक बाजपेई, फिलहाल पृ. १२३
१२. जगदीश श्रीवास्तव, समकालीन कविता पर एक बहस पृ. १५
१३. डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय, हिन्दी कविता में प्रगतिशील चेतना पृ. १७८
१३. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, अर्थ ६
१४. पहल, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र अंक पृ. २३
१५. वही
१६. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव समकालीन कविता का व्याकरण पृ.३
१७. मुक्तिबोध
१८. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन कविता का व्याकरण पृ.३
१९. लीलाधर जगूड़ी, इस नवान्त में पृ. १५१
२०. ज्ञानरंजन, इस नवान्त में भूमिका

◆ ◆ ◆

समकालीन कविता के सन्दर्भ में समकालीन आलोचना

तेजी से बदलता हुआ रचनात्मक मिजाज आलोचना को भी नये मोड़ों मे डाल देता है । जब हम कहते हैं - "मैं बकता नहीं हूँ कवितायें ईजाद करता हूँ गाली, और फिर उसे बुदबुदाता हूँ" अथवा यह तो कविता नहीं है, यह तो खून सनी चमड़ी उधेड़ लेने की तरह है (दूधनाथ सिंह) तो यह जरूरी हो जाता है कि इसके साक्षात्कार के लिए हम नये औजारों से लेस हों । एक समय था जब यह बात बार-बार कही जाती थी कि किसी युग की सम्पूर्ण रचनात्मकता समीक्षा के नये नियमों को जन्म देती है । लेकिन आलोचना रचना के पीछे-पीछे चलने वाली वस्तु नहीं है वरन् उसकी सहभागी है । युग की सम्पूर्ण रचनात्मक मानसिकता एक ओर सृजनात्मक लेखन में अभिव्यक्त होती है और दूसरी ओर आलोचना मे । आधुनिक युग में यह रचनात्मक द्वन्द्व और भी उभर कर सामने आया है । समकालीन रचना-संसार का दबाव आलोचना को नित-नये रूपों में गढ़ता है । इस बदलते हुए परिदृश्य में आलोचक की भूमिका बहुत बदल गई है । आज आलोचक को न तो लेखक और पाठक के बीच में खड़ा होना है, न कोई सलाह देनी और न ही किसी दुभाषिये का काम करना है । सही मानों में वह रचनाकार का सहयात्री है ।

रचनात्मक साहित्यकार को समीक्षक से सदैव ही शिकायत रही है । उसे लगता है अपने समय की चिन्ताओं को समीक्षक उतनी बारीकी से नहीं पकड़ता जितना वह स्वयं । हमारे युग में हर तरह की आलोचना हुआ है । रेनेवेलक का यहकहना अर्थरखता है कि हर तरह की आलोचना आज अपने बचाव में लगी हुई । नये आलोचक के रूप में भूसे का एक आदमी खड़ा कर दिया जाता है 'नया आलोचक' और उसके बारे में यह मान लिया जाता है कि इसने इस बात को नकारा है कि ऐतिहासिक ज्ञान द्वारा कलाकृति पर कोई प्रकाश पड़ता है।" टी०एस० इलियट ने बहुत पहले इस बात की ओर संकेत किया था कि हर पीढ़ी को अपनी साहित्यिक आलोचना खुद जुटानी पड़ती है क्योंकि हर पीढ़ी कला के भावन के लिए कलास्वाद की अपनी श्रेणियाँ सामने लाती है कला से उसकी अपनी अपेक्षाये होती है, और कला का उसका अपना उपयोग होता है । कालिदास से लेकर धूमिल तक सभी इस प्रक्रिया से होकर गुजरे हैं । कविता की समझ और उसके विद्रोही व्यक्तित्व की पहचान को लेकर यह शब्द सबसे पहले छायावादी कविता के मूल्यांकन के सम्बन्ध में स्पष्ट हुआ और इसलिए यह अचानक ही नहीं घटा कि सभी प्रतिष्ठित कवियों ने समीक्षा का दायित्व भी संभाला । इसमें सन्देह नहीं कि समीक्षा की

शब्दावली में भी छोटे-छोटे विस्फोट और क्रान्तियाँ हुई । जमे हुए अकादमिक आलोचकों से डटकर तकरार हुई । प्रगतिवादी कविता एक दूसरे तरह का वैचारिक दर्शन लेकर उभरी और समीक्षा को भी एक ठोस और माँसल आधार मिला । पहली बार काव्यात्मक सरोकारों का क्षेत्र विस्तृत हुआ । प्रगतिवाद ने मानवीय सहानुभूतियो का दायरा चौड़ा किया और मामूली लोगों तथा जिन्दगी खुद को कविता के रचनात्मक घेरे में ला खड़ा किया । यद्यपि सामाजिक सचाई के अन्वेषण ने कविता को अधिक समकालीन बनाया और मुहावरे की आम भाषा और बातचीत के नजदीक किया । परन्तु उसनें भी समीक्षा को कुछ जड़ होती जाने वाली रूढ़ियाँ दी जो हिलते हुए प्रतिमानों के बीच कुछ समय तक खड़ी रही । ''तारसप्तक'' के नये कवि इसलिए 'राहों के अन्वेषी' बने । उन्हें छायावादी मूल्य-व्यवस्था धसकते हुए कगार पर खड़ी दिखाई दी तो प्रगतिवादी कविता की बौद्धिक सहानुभूति भी नाकाफी लगी' व्यक्ति की प्रतिभा को छ़ायावादी ने लगभग अमूर्त्त बना दिया था और प्रगतिवादी ने व्यक्ति को अवमूल्यित कर लगभग अप्रसंगिक । सन् चालीस के आस-पास नये कवि की सामाजिक सचाई के, जिसमें व्यक्ति उलझता है - अहसास के साथ-साथ व्यक्ति की प्रामाणिक प्रतिभा को फिर से पहचाने और गढ़ने का उपक्रम किया गया । कविता की भाषा तब तक शब्दों की एक निष्करुण परम्परा बन चुकी थी और नये कवि ने उसे नये सम्बन्धों की तलाश और व्यवस्था के लिए एक सूक्ष्म समावेशी और सहज माध्यम बनाने का संदर्भ शुरू किया ।'' (अशोक बाजपेयी, फिलहाल) इस बीच देश स्वतंत्र हुआ नई आशाओं के कन्ट्रास्ट मे समस्यायें और विसंगतियाँ और भी तीखी हो उठीं । आशायें-और कुंठाए, नई चुनौतियाँ और पुराने तनावों ने जटिल होते हुए संकट-बोध को गहरा दिया । कविता की भाषा चुनौती की भाषा हो गई और इसलिए मानवीय, तात्कालिकता नयी कविता की लगभग चारित्रिक विशेषता है । मानवीय और मानवेतर संसारों की सीधी पकड़ इसे पुरानी रचनात्मकता से अलग कर देती है । चुनौती की कविता आलोचना के लिए भी खरी चुनौती है कि 'रचनात्मक आलोचना' जैसा शब्द इतना अधिक उछाला गया है । शायद आलोचना भी अपने लिए एक बिल्कुल नई जमीन तैयार कर रही है ।

भाषा अब कविता का माध्यम नहीं रह गई, वरन् सम्पूर्ण कविता ही भाषा पर झेला गया सैलाब है । पहले की सौन्दर्यात्मक भाषा चमत्कारिक लगती हुई भी एकायामी होती थी । समकालीन काव्यभाषा बहुयामी और परतदार है । यह बात विचित्र लग सकती है कि श्लेष, रूपक, यमक से पैवस्त भाषा अनुभूति के स्तर पर सपाट थी, इसके विपरीत आज की सपाट लगने वाली भाषा भी एक साथ कई रचना ससारों को उभारती है ।' आज की कविता का मूल स्वर आत्मानुभूति का नही आत्मान्वेषण का है ।' आत्मानुभूति का सम्बन्ध संवेदना से है जिससे उसके निर्जी जीवन का गहरा लगाव होता है । आत्मान्वेषण में महत्व मात्र संवेदना का नही, वैचारिक संवेदना का होता है । नया साहित्यकार आत्माभिव्यक्ति से सन्तुष्ट नही होता वह अपनी सवेदना के भीतर किसी बड़ी सवेदना की तलाश करता है जिसकी

परिणति 'विजन' होती है । (डॉ० बच्चन सिंह-आलोचना और आलोचक) आलोचक इस मूल संवेदना से टकराता है और प्रभाव वादी आलोचना के तमाम खतरे झेलते हुए भी रचना का पुनः सृजन करता है, यह निर्मिति सौन्दर्य और मूल्य दोनों ही स्तरो पर होती है । इस तरह आलोचना की तात्कालिकता नये मूल्यों की रचना में समर्थ होती है । प्रत्येक समर्थ आलोचक केवल समसामयिक रचनाओं की ही पड़ताल नही करता वरन् अपने रिक्थ को भी नये प्रकाश में उलटता-पलटता है । जाहिर है हमारे युग में समीक्षक का केन्द्र बदल गया है । प्राचीन आलोचकों का लक्ष्य था रचनागत आस्वाद की स्थिति स्पष्ट करना । इस तरह आलोचना में तथा कथित 'सहृदय' की प्रधानता थी । किन्तु आज की आलोचना का 'फोकस' सहृदय से हटकर रचनाकार द्वारा निर्मित एक सम्पूर्ण रचना-संसार पर है । इससे रचना की समझ में भी अन्तर आया है । सहृदयलक्षी आलोचना किसी रचना का सबसे बड़ा गुण उसका भावन मानती थी इसलिए साधारणीकरण की प्रक्रिया सबसे अधिक विवेच्य समझी जाती थी । इसके विपरीत अब रचना की साझेदारी अपेक्षित है ।

अज्ञेय ने लिखा था 'शब्द की अर्थवत्ता में स्फटिक की रचना के समान ही ध्वनि, लय, छन्द आदि के साथ ही सारे सामाजिक सन्दर्भ, युग सम्प्रक्ति और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व की भी पर्तें घनीभूत हैं । 'और' शब्द की अर्थवत्ता की खोज में शब्द की ऐतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख दोनो निहित है और अर्थवान शब्द का संवेदन (सम्प्रेषण) हो ही नहीं सकता बिना गुण-सम्प्रक्ति के । जो कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं है (और जैसे जीव का हर कर्म उसके संस्कार को बदलता है, वैसे ही शब्द का प्रत्येक उपयोग उसे नया संस्कार देता है) वह अर्थवान शब्द का साधक नहीं है, और मैं कहूँगा वह कवि नहीं है, न होगा ।' जब कवि कर्म की कसौटी यह है तो आलोचक की कसौटी भी यही है । आलोचक को उन्हीं शब्दों के साक्षात्कार से उस समस्त और व्यापक अर्थबोध तक पहुँचना पड़ता है जो सामाजिक सन्दर्भ और गुण-सम्प्रक्ति की कवि चेतना को उद्घाटित करने के साथ ही रूप-गठन के स्तर पर भी अपनी सार्थकता सिद्ध करता है ।

जिस तरह रचना की भाषा उस पूरे अन्तर्दोहन को स्पष्ट करती है जिसमे से होकर रचनाकार गुजरता है, उसी तरह समीक्षा की केन्द्रीय शब्दावली भी बदलते हुए युग के तेवर को स्पष्ट करती है । इसलिए जरूरी सवाल यह है कि आलोचना की भाषा रचना के अनुभव को विस्तृत और समृद्ध करने में यहाँ तक समर्थ है ? आधुनिक युग से पहले भी समीक्षा की एक केंद्रीय शब्दावली रही है, जिनकी परिधियाँ आपस में एक दूसरे को काटती हैं । स्पष्ट है कि यह शब्दावली विभिन्न तात्कालिक दर्शनों के क्षेत्र में पली है, क्योंकि दर्शन उस जमाने में सभी समस्याओं को सुलझाने वाला बहुमुखी औजार था । शताब्दियों तक समीक्षा भरत मुनि के शब्दो को केन्द्र बनाकर नाचती रही और इनके माध्यम से मध्ययुगीन समीक्षा मे भाषिक क्रान्तियाँ घटित हुई रस ध्वनि रीति वक्रोक्ति और औचित्य

समीक्षा के क्षेत्र में मौलिक भाषिक क्रान्तियाँ है । हिन्दी की भक्ति-युगीन समीक्षा एक सर्वथा नयी भाषा को जन्म देती है जो मध्य-युगीन दर्शन और धर्म के दोनों ध्रुवो को मिलाती है । विश्लेषण और वर्गीकरण की पद्धति को यदि नजरन्दाज कर दिया जाये तो वह अपने युग के सही मुहावरे को अभिव्यक्त करती है । आधुनिक युग मे आलोचना का जन्म द्विवेदीयुग में हुआ जिसके माने-जाने पुरोधा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं । उनकी आलोचना मुद्रा 'एक साफ-सुथरी बात को-जो हिन्दी के कवि उस समय मानने को तैयार नहीं थे - साहस और अधिकार के साथ कहने की है ।' उसमें उपदेश की गंध है पर भाषा बेलाग है । रामचंद्र शुक्ल ने समीक्षा की भाषा में बहुत से प्रयोग किए और कई नये शब्द गढ़े । जिसे आज हम रचनात्मक समीक्षा कहते हैं उसके प्रयोग शुक्ल जी ने ही शुरू किये । उनके 'संश्लिष्ट-चित्रण' 'बिम्बविधान' आदि जैसे प्रचलित प्रयोग आज लगते नहीं कि कभी गढ़े गये थे । छायावादी युग का मुहावरा समीक्षा को 'चित्रभाषा' 'शब्द की लय' प्रतीक भाषा जैसे शब्द दे गया और नये साहित्य में तो स्वयं भाषा के विषय में बुनियादी धारणा ही बदल गयी । भाषा अब माध्यम नहीं समझी जाती इसलिए अब अनुभूति और शिल्प को अलगाने वाली भाषा बे-मानी हो गयी है । जैसे नये लेखक ने कई क्षेत्रों से और अनुशासनों की धारणाएँ लेकर अपने समय की मानवीय स्थिति को परिभाषित करने के लिए एक नयी भाषा की तलाश की, नये आलोचकों ने भी एक समकालीन रचना को समकालीन जीवन से जोड़ने की कोशिश की लेकिन जब नई समीक्षा की भाषा के गढ़न पर इतनी बात की जाती है तो उसका तात्पर्य केवल शब्दावली मात्र नही होता, उसमें धारणाएँ, जिज्ञासाएँ और दृष्टि शामिल है ।' अगर आलोचक द्वारा उठाये जाने वाले सवाल प्रासंगिक" तो उसकी भाषा में मानवीय तात्कालिकता होगी और वह रचना को उसके अर्थ और महत्व दोनों पक्षों में उपयोगी ढंग से उजागर कर सकेगा । यानी उसकी भाषा जीवन्त होगी, उसमें रचनात्मक उत्तेजना होगी वह शब्दों की एक मूल्यवान और सार्थक व्यवस्था होगी ।' समकालीन कविता जब 'चीजों को उनके सही 'नाम' से पुकारने की तलाश" उसका मूल्यांकन भी पुरानी भाषिक-संरचनाओं से नहीं हो सकता । समकालीन रचना-परिदृश्य की यह पहली चुनौती है जिसे स्वीकार कर आज की समीक्षा रचना के मूल्यांकन की प्रचलित पद्धतियों को तोड़कर एक नयी पद्धति का आविष्कार करने के लिए विवश है ।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समीक्षा की नयी धारणाओं को केन्द्रीय शब्दावली के माध्यम से रेखांकित किया जा सकता है :-

(१) नयी समीक्षा का मूलाधार, जिसे समीक्षक केन्द्र में रखता है, अनुभूति की प्रामाणिकता है । यह संयोग नहीं है कि जब कविता में 'आत्मान्वेषण' और 'आत्म-संघर्ष' का महत्व स्वीकार किया जा रहा था तो नई समीक्षा ने प्रामाणिक अनुभूति की सार्थकता को रेखांकित किया । 'तब से आज तक लिखी' जाने वाली नयी काव्य-समीक्षा में कितनी ही नयी धारणाओं, प्रतीतियों से इसे जोड़ा गया है । यहाँ तक कि रचना के साक्षात्कार को महत्व देने के पीछे भी इसी क्रान्ति का विस्तार है अनुभूति की के अन्तर सवेगो की इमानदारी समय की सही

सम्प्रक्ति और यथार्थ का कल्पना के माध्यम से आत्म साक्षात्कार कर उसका रचनात्मक रूपान्तरण शामिल है ।

(२) समकालीन समीक्षा में सम्प्रेषण की समस्या को 'सह अनुभूति' के माध्यम से अभिव्यक्त किया है । इसके भीतर वद्ध मूल मान्यता यह है कि 'सह अनुभूति से व्यक्तित्व और विवेक का परिहार नहीं होता जैसे कि 'रसानुभूति' मे होता है और कवि तथा पाठक (आलोचक) दोनों का सह-अस्तित्व बना रहता है। सहअनुभूति रसानुभूति की तरह सामान्यीकृत अनुभूति नहीं है बल्कि व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति है, उसमें भाव तथा दृष्टिकोण दोनों का समावेश होता है ।

(३) प्रतिमानों के स्तर पर नयी समीक्षा में जो शब्द दिया है वह है आधुनिक वोध । यद्यपि इसे ठीक-ठीक प्रतिमान तो नहीं कहा जा सकता फिर भी कभी इसे मूल्य माना गया और कभी प्रक्रिया । समकालीन कविता की जटिलता विना आधुनिक-वोध के न तो स्पष्ट हो सकती है और न ही व्याख्यायित । फिर भी नया समीक्षक यह मानता है कि यथार्थ की तात्कालिकता में सीमित होकर 'वास्तविकता' से निष्कर्ष निकालने की कोशिश न सिर्फ बेमानी होगी, बल्कि अर्थशक्ति की सारी सम्भावनाओं को मिटा कर रख देगी ।

(४) नयी समीक्षा की मुख्यचिन्ता 'बिखरे हुए विचार सूत्रों में ताल-मेल बैठाने की नहीं है बल्कि कविता और उसके समकालीन परिदृश्य जिसमें वह उपजती है - के सम्बन्ध को नए सिरे से जीवन्त वनाने की है । इस दृष्टि रचना का सम्यक मूल्यांक संश्लिष्ट रूप में ही किया जा सकता है, बारीक-विभाजनों वाले पुराने औजार अप्रासंगिक हैं । वस्तु और शिल्प भी दो वस्तुएँ नहीं हैं, पूरी रचना जिस रूप में भी वह उपलब्ध है अपने को पूरी तरह स्पष्ट करती है ।

(५) व्यंग्य, विसंगति और विडम्बना, मूल्यों के टूटने-बनने की प्रक्रिया मे उपजे आलोचना के नए प्रतिमान माने जा सकते है । प्रेमचन्द ने अपनी 'पूस की रात' और 'कफन' कहानियों में इसे 'गम की कहानी मजा ले-लेकर कहना' बताया है । छायावादी युग में ही, निराला की परवर्ती रचनाओं में यह वृत्ति गहराने लगी है, लेकिन उस समय यह समय से आगे की चीज है । अकस्मात एक हल्की वात कहकर गम्भीरता को झटके से तोडने को प्रवृत्ति युग की भी प्रमुख वृत्ति रही । समकालीन रचना परिदृश्य में यह व्यंग्य और विसंगति शब्दों के क्रीड़ा भाव मे परिलक्षित होती है । हालाँकि यह कविता के मूल में किन्ही गहरे अर्थों को संचालित करती है ।

(६) **तनाव, स्ट्रक्चर, बनावट** : - भाषा को केन्द्र में रखकर विचार करते समय कथ्य और रूप का अलगाव आलोचना के क्षेत्र में भी समाप्त हो गया है । समीक्षा के क्षेत्र में ऐसे शब्द विकसित हुए हैं जो कविता को समग्र रूप में सृजित करते हैं । इन शब्दों पर विदेशी अवधारणाओं का आरोप लगाया जा सकता है । लेकिन फिर भी नयी धारणाओं को विकसित करने में इनका महत्वपूर्ण स्थान है । काव्य-भाषा का मूल गुण तनाव या संतुलन स्वीकार करना, उसका साक्षात्कार

अनेकार्थता या एम्बिगुइटी के रूप में करना इन्हीं नयी अवधारणाओं का प्रभाव है। इसीलिए कभी-कभी यह बात कही जाती है कि नयी समीक्षा मुख्यतः काव्य-भाषा की समीक्षा है । इस सन्दर्भ में दो और महत्वपूर्ण शब्द है स्ट्रक्चर और टैक्सचर । जिसे मिलाकर हम कविता की बुनावट का नाम दे सकते हैं ।

इस तरह आज की समीक्षा का दायित्व काव्यकृति को निजी और स्वतः सम्पूर्ण संसार न मानकर भी परिवेश में उसकी प्रासंगिकता की पहचान करना है । इस प्रासंगिकता में मूल्यों की सापेक्षिता निहित है । जब आपका सामना कवि के मानवीय होने के संश्लिष्ट अनुभव से होता है तो आप अपने अनुभव संसार से उसमें प्रासंगिकता खोजने को, दोनों की तुलना करने को, कई बार विवश हो जाते हैं । ऐसी आलोचना भी उपयोगी हो सकती है, अगर आलोचक अपने और कवि के ससारों के बीच के तनावों का उत्कटता से बखान कर सकें । ऐसी आलोचना में रचनात्मक ताप और उत्तेजना हो सकती है जो उसकी सार्थकता की एक विश्वसनीय पहचान है ।

◆ ◆ ◆

आठवें दशक की कविता पर एक बहस

आठवाँ दशक हिन्दी कविता के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा है । कविता फिर से साहित्य की केन्द्रीय विधा हो गई है इस तथ्य को चीजों के साथ किसी भी प्रकार जोड़ा जाय इसकी अहमियत है, अगर यह 'चालू मुहावरा' भी हो तो इतिहास की प्रक्रिया ने स्वयं इसमें गढ़ा है और इसे नजरन्दाज नहीं किया जा सकता । 'कविता की वापसी' को लेकर गरमागरम बहसें भी छिड़ी हैं । इस बीच बहुत सी अन्य बातों के साथ कविता की बिक्री और खरीद को लेकर भी जुमले उछाले गये हैं । देखने की बात यह है कि सातवें दशक की कविता से हटकर ऐसा क्या कुछ विकसित हुआ है जिसे आठवें दशक की कविता की संज्ञा दी जा सके। नई कविता से अलग साठोत्तरी कविता ने अपनी एक नई पहचान बनाई थी । इस पहचान को विभिन्न काव्यान्दोलनों, पीढ़ियों, मोर्चों, खेमों और घोषणाओं मे लिपिबद्ध किया गया था । डॉ० जगदीश गुप्त ने जिसे 'किसिम किसिम की कविता' कहा है वह महज नुमायश नहीं है बल्कि किसी भीतरी स्तर पर तलाश और तनाव की ज़द्दो-ज़हद है । सातवें दशक के समाप्त होते-होते उसकी दिशा बहुत कुछ स्पष्ट हो गई थी ।

आठवें दशक का प्रारम्भ धूमिल के 'संसद से सड़क' (१९७२) से होता है । अपने में यह तथ्य काफ़ी महत्त्वपूर्ण है । अस्तित्ववादी और अकवितावादी मुहावरे से हटकर आम आदमी से जुड़ने की जागरूक कोशिश ने कविता को 'सार्थक' वक्तव्य बना दिया है । पहले कविता को राजनीति से जितना ही परहेज़ रहा था आज उतनी ही तेजी से वह उससे जुड़ी है । इस जुड़ाव ने कविता को एक नई भंगिमा दी है और एक नये मुहावरे को विकसित किया है । परिणाम स्वरूप कविता की प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन आया । धूमिल इसके प्रारम्भकर्ता थे । उनकी कविता की गूँज एक लम्बे समय तक रही । इसे सीधे-सीधे धूमिल का प्रभाव न कहा जाकर, उस पूरी जमीन का प्रभाव कहा जाएगा जो इस बीच बराबर टूटती रही है । आदमी की ज़िन्दगी निरन्तर कठिन होती गई । सातवें दशक के अन्त तक आते-आते, लडाई की मुद्राओं और सामरिक युक्तियों से भरी हुई थीं कविता की जेबें ।

प्रयोगवाद को मोहभंग कहा गया था फिर नई कविता भी मोहभंग की कविता थी । सातवें और आठवें दशक की कविता मोहभंग की कविता है । हर टूटा हुआ मोह एक नये प्रकार के मोह को जन्म देता है जिसके चारों तरफ जिन्दगी धीरे-धीरे जुड़ने लगती है । इस टूटने और जुड़ने की साक्षी कविता पूरी तरह से रही हैं निषेध आक्रोश और ध्वस अपने पहलू रखते हुए भी मोहभग की प्रक्रिया के शिकार हुए हैं

क्या दिया तुमने ? / महज जयहिन्द / फ़कत फ़ाकाशाही / आँकड़े, बस आसमानी आँकड़े और / गुत्थम गुत्था / राशन की कसी कतारें, बेरोजगारी /

- केशनी प्रसाद चौरसिया

आपात काल की घोषणा (जून ७५) आठवें दशक की एक महत्वपूर्ण घटना थी । इस काल की कविता में भी एक गुम हुई फ़िजा का अहसास होता है । घुटन इतनी है कि तूफ़ान के लक्षण साफ दिखाई देते हैं । कविता मौन और संकेत शील हुई । लेकिन दूसरी आजादी भी कुछ नहीं दे सकी एक और मोहभंग के सिवाय । आदमी बदले, पार्टी बदली थोड़ा रखरखाव बदला लेकिन शासन का चरित्र नही । इसलिए आठवें दशक की कविता हर तरह से अपने यथार्थ से जुड़ी हुई है । अज्ञेय जैसे कवि भी जमीन के निकट उतरे हैं । चाहे मुट्ठी में लेकर ही सही, मिट्टी को उन्होंने आँखों तक उठाया है -

हम न पिट्ठू हैं न पक्षधर हैं / हम हैं और हमें / सफाई चाहिए / साफ़ हवा चाहिए और आत्म सम्मान चाहिए जिस की लीक हम डाल रहे हैं / हमारी जमीन से / हट जाओ /

- अज्ञेय

रचना शीलता के इस विशिष्ट चरित्र से जुड़कर देखने पर ही हम इस घटना को समझ सकेंगे कि पुराने कवि, फिर से आठवें दशक में प्रासंगिक क्यो हो उठे हैं । डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है कि यह सींग कटाकर बछड़ों में मिलने की प्रक्रिया नहीं है, वरन् कविता में नए नाखून पैदा करना है ।

गिरजा कुमार माथुर में प्रारम्भ से ही रोमानी प्रवृत्ति और सांद्र भावुकता प्रखर रही है । तार सप्तक के पाँचवें कवि के रूप में भी उनकी यही पहचान और गहराई से पेबस्त हुई थी । लेकिन साक्षी रहे वर्तमान की कविताएँ बिल्कुल नई जमीन तोड़ती हैं । अपनी पूरी कुशलता और जटिलता के साथ वे यथार्थ से प्रत्यक्ष संवाद है ।

मेरे भीतर / हर वक्त एक अधनंगा आदमी / घिसटता हुआ सड़कों की कोढ़ पर / कहता है / वक्त अब नहीं है / मेरे भीतर / हर वक्त एक पुश्तैनी राजरोगी / हाथी दाँत के बे पैदे फ्रेम में / बीमार हँसी हँसता है / सोने मढ़े दाँतों से कहता है / अभी वक्त बहुत दूर है /

केदार नाथ सिंह भी नई कविता के गीतिधर्मी कवि के रूप में जाने जाते रहे हैं । उनकी प्रसिद्धि तीसरे सप्तक के कवि के रूप में भी रही है । लेकिन अपने पहले काव्य-संग्रह के लगभग बीस वर्ष बाद प्रकाशित उनका नया काव्यसंग्रह 'ज़मीन पक रही है' उनकी काव्य चेतना का विस्फोट ही कहा जाएगा । कविता के पाठको के लिए यह तथ्य भी मनोरंजक सिद्ध हो सकता है कि एक ही वर्ष में इसके दो सस्करण प्रकाशित हुए हैं । जीवन के घोर और कटीले यथार्थ के साथ पारदर्शी इन्द्रियता समकालीन कविता से हटकर हमारा ध्यान अपनी ओर खीचती है

वैचारिक टकराव से यह कविता से गहरे स्तर पर जुड़ी है और उसमें वह पूरी शक्ति के साथ शामिल है । इस भ्रम में हमें रोटी बैल और आलू जैसी जानी-पहचानी वस्तुओं के माध्यम से मानव विरोधी शक्तियों के बरवस उसकी कल्पना-शीलता और साहस का आत्मीय संघर्ष करती है -

> *चुप रहने से कोई फायदा नहीं / मैंने दोस्तों से कहा और दौड़ा / सीधे खेतों की ओर / कि कहीं शब्द पक न गये हों / यह दोपहर का समय था / और शब्द पौधों की जड़ों में सो रहे थे / खुशबू यहीं से आ रही थी-मैंने कहा / यहीं-यहीं-शब्द यहीं हो सकता है / जड़ों में ।*

तार सप्तक के कवि भारतभूषण अग्रवाल (मृत्यु १९७५) भी इसी अर्थ में चर्चित हो सके हैं । राजनीति तंत्र की बनावट और कसावट और उसकी बहुरंगी प्रदर्शिनियों के बीच कवि सीधा मुखातिब होता है -

> *भाइयों / सहधर्मियों / सुनो, तुम्हें मन की एक बात बतलाता हूँ सूरज का कोई सब्स्टीट्यूट नहीं है / यहाँ तक कि चाँद भी / जितना उजला है / उतना वह सूरज है ।*

प्रकाशित संकलनों की दृष्टि से देखें तो, कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने इस दशक में एक से अधिक संकलन प्रकाशित किये हैं । अमृता भारती के चार कविता संकलन प्रकाशित हुए हैं । मैं तट पर हूँ (१९७१) आजकल या सौ बरस बाद (१९७५) मिट्टी पर साथ-साथ (१९७६) मैंने नहीं लिखी कविता (१९७८) अन्तर्वस्तु में एकरूपता होते हुए भी इन कविताओं का अपना एक आन्तरिक संसार है और निजी मुहावरा है इनकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए थी । परन्तु हुआ ऐसा ही है । समकालीन कविता पर जितनी भी आलोचनाएँ देखी गई हैं वे प्रायः उन्हें अपने साथ नहीं जोड़ती । तीन कविता संग्रह दो कवियों के देखने में आए हैं । प्रणवकुमार बन्धोपाध्याय के मृत शिशुओं के लिए प्रार्थना (१९७३) काली कविताएँ (१९७४) मुर्दा गाड़ी (१९७६) एवं लीलाधर जूगड़ी के रात अब भी मौजूद है (१९७६) बची हुई पृथ्वी (१९७७) घबराए हुए शब्द (१९८०) जगूड़ी के लिए निःसन्देह यह दशक तलाश और तलाश का रहा है । उनका प्रारम्भिक रचना संसार एक ओर अकविता से टकराता था दूसरी ओर राजनीतिक नाटकतंत्र से । लेकिन इस दशक की कविताओं में जगूड़ी ने बेहद मासूम विषयों को लेकर बेलौस चोटें की हैं, जो पाठकों को सभलने का अवसर प्रदान नहीं करती । इधर साहित्य में रोमान की वापसी का भी नारा लगाया गया है, और यह साबित करने का प्रयत्न किया गया है कि चिड़िया, बच्चे, माँ, स्त्री, पेड़ और पर्वत जैसे विषयों पर कविता फिर से लौटी है । लेकिन यहाँ यह भूलना नहीं होगा कि आठवें दशक की कविता में पेड़ सिर्फ पेड़ नहीं है चिड़िया सिर्फ चिड़िया नहीं । यहाँ तक कि चिड़िया सम्बन्धी कई कविताओं को पढ़ जाने के बावजूद भी चिड़िया के रूप में उससे हमारी पहचान अधूरी ही रहती है -

चिड़िया - १

उसने कभी नहीं सोचा कि मेरा नाम चिड़िया है / वो / जो घोड़े की नसों मे फँसी हुई / घोड़े की आँख से आकाश देखती है / और उड़ जाना चाहती है / वो / जो आदमी के नसों में उड़ान मारती / घोड़े में उड़ान मारती / चिड़िया को दखती है / और गुत्थम गुत्था हो जाना चाहती है / उसने कभी नहीं सोचा कि मेरा नाम चिड़िया है /

लीलाधर जगूड़ी

जगूड़ी के इन कविता संग्रहों में उनकी कई चर्चित कविताएँ हैं । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मणिमधुकर और विनय के दो काव्य संकलन प्रकाशित हुए है । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के कुआनो नदी (१९७३) जंगल का दर्द (१९७६) मणिमधुकर की घास का घराना (१९७७) बलराम के हजारों नाम (१९७८) एव विनय की दूसरा राग (१९८०) पुनर्वास का दण्ड (१९७८) सर्वेश्वर दयाल की कविता कोई अचानक मोड़ नहीं लेती, लेकिन वहुत ही सहज गति से वह पाठक को अपने लक्ष्य तक पहुँचा देती है । बलराम के हजारों नाम से मणिमधुकर की पहचान और तीखी हुई है । नरेश मेहता की दो कविताएँ महाप्रस्थान (१९७५) और प्रवाद पर्व (१९७५) संशय की एक रात के विकास जान पड़ते हैं । कथा का माध्यम कवि ने दोनों ही रचनाओं में लिया है परन्तु वह प्रमुख कभी भी नहीं रही। महाप्रस्थान का कथानक महाभारत से चुना गया है और प्रवाद पर्व का रामायण से। ये सभी कवि इस दशक से पहले ही चर्चित और प्रतिष्ठित हो चुके थे ।

लम्बी कविताओं की रचना इस दशक में काफी हुई । मुर्दागाड़ी (प्रणव कुमार बन्धोपाध्याय) आजकल या सौ बरस बाद वाद (अमृता भारती) कुआनो नदी (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) एवं पुर्नर्वास (विनय) पुस्तकाकार लम्बी कविताएँ है । घास का घराना (मणिमधुकर) लम्बी कविताओं का ही संग्रह है । इसके अतिरिक्त लीलाधर जगूड़ी, वेणुगोपाल की कई महत्वपूर्ण लम्बी कविताएँ इस दशक मे प्रकाशित हुई और उसकी चर्चा-परिचर्चा की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित हुआ है । एक विशेष महत्वपूर्ण घटना इस दशक के कविता संसार (जिसमें कवि और पाठक दोनों ही शामिल हैं) का चरित्र स्पष्ट करती है । वह है धूमिल के कविता सग्रह 'कल सुनना मुझे (१९७७) एवं मुक्तिबोध के 'भूरी-भूरी खाक धूल (१९८०) का प्रकाशन । ये दोनों ही कविता संग्रह कवियों के मरणोपरान्त प्रकाशित हुए है। जिनके पहले कविता संग्रहों ने ही कवियों को एक संस्था के रूप में स्थापित कर दिया था, उनकी शेष कविताओं को पढ़ना माने रखता है । कम-से-कम इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है और वह यह उनकी कविता पूरी सचाई के साथ आठवें दशक की लड़ाई में भी शामिल है । अपनी प्रचण्ड सर्जनात्मक ऊर्जा के कारण ये कविताएँ मन को झकझोरती भी हैं और समृद्ध भी करती हैं । यह आकस्मिक नहीं है कि अपनी मृत्यु के सोलह वर्ष बाद भी मुक्तिबोध हिन्दी के सर्वाधिक चर्चित कवि हैं ।

जैसे-जैसे दशक के उत्तरार्द्ध की तरफ आते हैं कविता-संकलनों के प्रकाशन में वृद्धि होती गई है । १६८० में एक साथ कई उल्लेखनीय संकलन नजर आते हैं । अधिकांश इनमें नए कवियों के संकलन हैं कुछ पुराने भी हैं । वेणुगोपाल के दो संग्रह इसी वर्ष प्रकाशित हुए हैं 'चट्टानों का जलगीत' और 'हवाएँ चुप नहीं रहती' यद्यपि इनकी कई कविताएँ पहले से चर्चित रही हैं । 'सुनो कारीगर' उदय प्रकाश का पहला काव्य-संग्रह है, परन्तु इसने सही मायने में लोक प्रियता प्राप्त की है ।

चौथे सप्तक (१६७६) के उल्लेख के बिना आठवें दशक की कविता की चर्चा अधूरी ही रह जाएगी । बल्कि एक 'पत्रिका' की घोषणा तो यह थी कि आठवें दशक को कविता की वापसी इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इसमें ज्ञानपीठ पुरस्कार कविता के लिए मिला है और वह भी अज्ञेय को । इस कथन को एक लतीफ़ा समझ कर छोड़ भी दिया जाए, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि आठवाँ दशक कविता को रेखांकित करता है ।

◆ ◆ ◆

समकालीन कवयित्रियों का रचना-संसार : एक यात्रा

कल का इतिहास लेखक शायद उस अन्तर्विरोध का समाधान खोज पाए कि एक ही काल में, जहाँ कथा साहित्य में महिलाओं ने सीमान्तों का स्पर्श किया है, कविता जो सहजतः नारीजन के अधिक अनुकूल मानी जाती रही है, अपेक्षाकृत उपेक्षित क्यों है ? यह विरलता मात्रा और गुणात्मकता दोनों ही दृष्टियों से हमारे सोच की माँग करती है । इसका एक कामचलाऊ उत्तर तो यह हो सकता है कि कविता ने स्वयं अपने सीमान्तों को बदला है और वह उस रूप में सहज नहीं रह गयी है जैसी कि पहले समझी जाती रही है । तेजी से बदलते हुए रचनात्मक मिजाज मे, या तो कवयित्री का मन पीछे छूटा है अथवा उसने किसी सहयोगी पटरी का इस्तेमाल किया है । कविता उसके लिए नाकाफी हो गई । छायावाद-युग के बाद यह बात तेजी पकड़ती है । महादेवी का रचना संसार अपने युग के शीर्षस्थ कवियो के समकक्ष ही है । उसकी नाप तौल हम महिला होने के नाते नहीं करते । लेकिन उसके बाद, दरारें पड़ती दिखाई देती हैं, और कभी-कभी तो हमें प्रत्येक आन्दोलन के लिए एक-एक कवयित्री को 'सुरक्षित सीट' पर खोजना होता है । कविता की सहज ऊर्जा जो प्रायः क्षणिक अनुभूति के रूप में उगती है । बहुत जल्दी चुक जाती है और उसके बाद धरती सूखने लगती है क्योंकि उसे सींचने वाले स्रोत केवल आन्तरिक होते हैं । यह बात तो हम महादेवी जैसे सशक्त रचनाकार में भी पाते है। यही कारण है कि कविता की अपूर्ण अन्तर्मुखी धारा समय के साथ पतली होती गई वहीं उनके रचनात्मक गद्य की जड़ें अधिक मजबूत होती गई हैं ।

इस तरह के तर्क सिर्फ सरलीकरण भी हो सकते हैं । हम इसके साक्ष्य कवयित्रियों के आत्म कथ्यों में खोजने का प्रयास करेंगे । यद्यपि ऐसे उदाहरण अधिक नहीं मिलते फिर भी ये हमारे लिए उपयोगी साबित हो सकते हैं । पहला साक्ष्य दूसरे सप्तक की कवयित्री शकुंत माथुर का है । अपने सप्तकीय वक्तव्य मे उन्होंने लिखा है 'काव्य सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करने के पूर्व में एक बात स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि यद्यपि मैंने पिछले दस वर्षों (अर्थात् १९४१-५१तक का काल) में ढेर कविताएं लिखी हैं पर मैंने आरम्भ से यह कभी नहीं सोचा कि मैं कवि हूँ और मेरी रचनाएं औरों के लिए भी कुछ महत्व रख सकती हैं । मैंने जब भी कुछ लिखा उसे मन की मौज छोड़ दिया और मेरे पति ने भी उसे सदा हसी मे टाल दिया इसके अतिरिक्त जब भी मै कविता लिखती इनकी कोई न-कोई

रचना मेरे सामने आ खड़ी हो जाती और मेरी रचना शर्मिन्दा हो जाती[१] "यद्यपि इसी वक्तव्य के अन्त में शकुंत माथुर ने शुभाशंसा व्यक्त की थी और अन्त में यह कि कविता जीवित हो, अर्थात वह जीवन के वास्तविक वातावरण और परिस्थितियो की जमीन पर जन्म लें, इसी में उसकी पूर्णता है और इसी दृष्टिकोण के सहारे आगे बढ़ेगी' परन्तु उनकी अधिकांश कविताएं 'क्षण' की कविताएँ हैं । क्षणों के मूड्स की कविताएं हैं "उन वैज्ञानिक विशेषज्ञों की तरह जो मौसम का पूर्वानुमान कर बता देते हैं कि वर्षा आएगी- कब आएगी, तापमान बढ़ेगा या नीचे चला जाएगा। 'जब कुछ उथल-पुथल होती है संघात होता है, टूटन बिखरन और किसी भी परिचित अहसास का उद्भव या विछोह इन्हीं में से कहीं कुछ जीवित निकल कर मेरी भीतरी परतों पर ओस बूँद की तरह अलग बैठ जाता है, और फिर उसके आस-पास मडराती मन चली कल्पनाएँ, यथार्थ के उद्भूत आत्म-संवाद, कार्य-कारण का 'कन्फ्यूजन' तृप्ति और अतृप्ति की अनेक प्रतिक्रियाएं सचमुच इस सत्य को अद्वितीय बना देती हैं ।[२]

मैं सुख के इस छोटे पोखरे में / सुनहरी मछली सी तैर गई हूँ। उसे ही एक मात्र धुरी बना। धरती सी उसी पर यथावत, घूम रही हूं / पहला और आखिरी प्यार बस / तुम्हें ही जानती हूं / और काई का स्थायीघर बना / पानी की तह में बैठ गई हूँ। मछुवा जाल लेकर, थक-थक कर लौट गये हैं,
(सुनहरी मछली)

यह कविता कवयित्री के रचना संसार और सृजनात्मक व्यक्तित्व को स्पष्ट कर देती है, साथ ही उनकी रचना सीमा को भी रेखांकित करती है । दूसरे सप्तक के बाद चाँदनी चूनर' उनका पहला काव्य संग्रह था जिसमें उनकी ५५ कविताए संग्रहीत हैं । इस कविताओं के सम्बन्ध में दावा किया गया कि इन रचनाओं के सहज स्वाभाविकता है । दूसरी विशेषता यह है कि उनमें अन्तस्तल की मौलिक संवेदनाओं का निर्भर है तथा तीसरी विशेषता यह है घर . . आँगन के प्रतिदिन के वातावरण के सीधे-सादे उपमान और बिम्ब असाधारण मनोरमता तथा सुकुमारता के साथ कवयित्री के व्यक्तित्व को सामने रख देते हैं ३ उनका दूसरा काव्य संग्रह अभी और कुछ इस पहचान को गहराते हैं । ऐसा नहीं है कि छोटे सुखों' की कविताएं अच्छी कविताएं नहीं होती परन्तु वे कवि की सीमाएं नहीं बन जानी चाहिए, क्योंकि अनुभव-संसार का सीमित होना कवि की संभावनाओं का अवरुद्ध हो जाना ही है । शंकुत माथुर के साथ ऐसा ही हुआ है । उनकी अधिकांश कविताए सुखी गृहस्थिन की अनुभूतियों को लेकर लिखी गई हैं । व छूती न हो ऐसी वात नहीं है, पर छूकर ही द्वार बन्द कर लेती हैं ।

पुराने नौकर को / देरी से काम करने की आदत पर / बहुत डाँटा / प्यारे बच्ची को सैतानी मचाने पर / लगाया करारा चाँटा / रसोई की / अलमारियाँ झाड़ी, / मसाले के डिब्बे किए साफ / फिर भी अभी तक आफिस से / लौटे नही हैं आप /
इत्जार का नया ढग

लेकिन ये, और इस प्रकार की रचनाएं 'मीठी कल्पनाओं की बनाई का एक नया पैटर्न' होकर रह जाती हैं वे तनाव शून्य अनुद्विग्नता की कविताएं हैं । ''मैने खुले लान की पार्टी पर अपने प्रेमी को बुलाया है'' अथवा 'तुम्हें 'काले मेघ' देखकर मेरी छाती फटी जाती है । इसलिए नहीं कि मेरा पति परदेश गया है । *नहीं-नहीं / यहीं पास में / पड़ोसिन के घर गरम-गरम, पकौड़ियाँ खा रहा है /* जैसे कथन साहसिक कथन का रूप धर कर आते जरूर हैं परन्तु वे वास्तव में एक चुहल मात्र हैं । उनका सम्बन्ध भावना की गहराई से नहीं है । जब किसी विचार के दबाव से कवयित्री सामाजिक परिवेश की कविता लिखती है तो वह कला हीन और सपाट हो जाती है ।

ए काली घटाओं के घिरे बादलों यहाँ कभी न आना / यहाँ अन्न न उपजाना/ यहाँ अकाल ही रहने दो / भुखमरी ही सहने दो / तभी तो भगवान की याद करेंगे यहाँ के लोग / और मैं भी हवन कराऊंगी/ सवा मन चावल के लड्डू का भोग लगा उगाऊंगी / क्योंकि ब्लेक मार्केट में चौगुना कमाऊंगा / तब कहीं आपको रिश्वत में चौथा भाग दे पाऊंगा /

शंकुत माथुर की कुछ कवितायें अच्छी कवितायें हैं लेकिन सीमित अनुभवो की । वे अपने में बन्द हैं और मनुष्य के गहरे सवालों से दूर अपनी सीमा में अवरुद्ध हो गयीं हैं ।

उनकी इधर की कुछ कविताओं में जो प्रायः लघु पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आई हैं कुछ बदलाव दिखाई देता है, परन्तु यह बदलाव उन्हें अकविता की तरफ ले जाता हुआ, एक दूसरी सीमा रेखा का निर्माण करता है ।

प्रेम शब्द / और उसके / समस्त अर्थ को / मैंने अस्वीकार कर दिया है / इस बढ़े हुए नाखून जैसा / जिसे आज ही सुबह / मैंने तराश दिया है ।

(निरर्थक शब्द)

कीर्ति चौधरी तीसरे सप्तक की कवयित्री हैं और जैसा कि उन्हें माहौल मिला था, कविता से बच पाना उनके लिए सम्भव नहीं था ''कविता लिखना कैसे आया ? यह मैं स्वयं नहीं जानती । प्रेमचन्द्र जी और सम्पूर्णानन्द जी से हम लोग सम्बन्धित हैं । निराला जी अरसे तक युग-मन्दिर मे रहे हैं । नाना-मामा-मौसी सब कुछ न कुछ लिखते रहे थे । पिता की विशिष्ट साहित्यिक रुचि है । माँ ने साहित्य क्षेत्र में प्रसिद्धि पायी है । बड़े भाई भी अपने को लेखक कहते हैं । ऐसे वातावरण मे कविता मेरे लिए शायद एक अनिवार्यता बन गई । घर, परिवार, वातावरण सस्कार और वृत्ति सभी में साहित्य था । मैंने चाहा होता तो भी सम्भवतः मेरे पास कोई दूसरा उपाय न था ।''

तीसरे सप्तक में संग्रहीत कीर्ति चौधरी की कवितायें उनकी कच्ची उम्र की कवितायें हैं और उसमें आधुनिक मनोवृत्ति की अपेक्षा सहज रोमाँटिक भावना अधिक है इसमे अनकही कुछ कुछ अटपटी लगने वाली सुख उदासी स्मृति आदि की अनुभूतियाँ प्रबल हैं

'बरसते हैं मेघ झर-झर' में भीगती धरा और उड़ती गन्ध के बीच तन को निर्वध छोड़ने की मन की चाहना और चतुर्दिक बिखरी हुई हिम शीतल सुहानी शान्ति में अभिशप्त अन्तर का उत्तप्त होकर दहकते ही जाना रोमांटिक वेदना की अनुभूति है । शैली का अनलंकरण, सीधे कथन का ढंग, असम्बद्ध अनुभूति विम्बो के माध्यम से प्रभाव को एक व्यापक फलक पर बिखेर देना और अन्तिम उक्ति अथवा माध्यम से पुनः सम्पूर्ण विश्रृंखलित बिम्बों की संवेदना की सघनता में गुम्फित करने का प्रयास इन कविताओं में मिलता है ।'

''खुले आसमान के नीचे'' उनका एकमात्र कविता संग्रह है जिसमें सप्तक भी है । इन कविताओं के अतिरिक्त कुल ४६ कवितायें हैं । बोध और अभिव्यक्त दोनों ही स्तरों की कविताएँ पर उन्हें विलगाया नहीं जा सकता । वे एक ही भावबोध की समानन्तरता की कवितायें हैं । वैसे यह तो निर्विवाद माना जा सकता है कि कीर्ति चौधरी प्रकृति से गहरे सरोकार रखने वाली कवयित्री हैं । तीसरे सप्तक मे लता १- लता २ इत्यादि कवितायें प्रकृति के साथ जुड़ाव की कवितायें हैं । 'खुले हुए आसमान के नीचे' में भी कुछ कवितायें इसी प्रकार की हैं ।

खुले आसमान के छोटे से टुकड़े ने । मुझे फिर से लुभाया । अरे ! मेरे इस कातर भूले हुए मन को । मोहेर्ि । कोई और नहीं आया । उसी खुले आसमान के छोटे से टुकड़े ने मुझे फि से लुभाया ।

कवयित्री का 'पुल्लिंग में लिखने' का शौक किस ग्रन्थि की उपज है, कहना मुश्किल है, परन्तु इसका एक जरूरी परिणाम यह हुआ है कि उनकी कविताये अपनी ही जमीन को नकारती हैं और एक पूरी कविता की भीड़ में अपनी पहचान खो देतीं" । 'खुले हुए आसमान के नीचे' का प्रकाशन १६६८ में हुआ था उसके बाद एक लम्बा अन्तराल है । वस्तुतः कीर्ति चौधरी का रचना संसार उस लाल फूलों के गुच्छे वाली लता का है जो अनायास उगती है, परन्तु मजबूती से जमीन को पकड़ने एवं दीर्घ काल तक खड़े रखने की शक्ति खो देती है ।

सप्तकों से इतर कुछ अन्य नाम चर्चा की दरकार रखते हैं । इनके रचना संसार से गुजरना कवयित्रियों की पूरी मनोभूमि से होकर गुजरना है ।

इन्दुजैन ने अपनी कविता के सर्जक क्षण को स्पष्ट करते हुए तीन पंक्तियों को रेखांकित किया है, जो उनकी रचना प्रक्रिया को पूरी तौर पर स्पष्ट करती है ।

एक क्षण में भरपूर जी लेने की सामर्थ्य ।

देह से परे होकर हलके उठ आने का सुख ।

कष्ट मथे मन की अभिव्यक्ति-कष्ट के कारण की हीनता व गुरुता से परे ।

''कविता लिखना अपने में एक मोह की प्रक्रिया है कभी वह शब्द से संकलन कभी दृश्य से कभी कभी कथन से और कभी मात्र कविता लिख लेने की ललक से । आक्रोश भी मोह की स्थिति है । घोर मोह की । किन्तु हर सृजन घुमड कर निकलता है हर बार एक सूराख की तलाश करता हुआ

जगह जरा पाते ही / अन्दर से तोड़ता / प्रवाह चला आता है फोड़ता / मस्तक कर ऊँचा / [७]

कविता का प्रेरणा स्रोत किस बिन्दु में छिपा है उसका एकाध उदाहरण कुछ रोशनी दे सकता है 'एक सड़क से रोज रोज गुजरते हुए मै नये खम्भे खड़े देखा करती थीं एल्मूनियम पेन्ट से चमकते आधुनिक आकृति दोनों ओर फैली बाहे और पृष्ठ भूमि में आकाश-नितान्त आकाश, कभी साँवला, कभी सफेद, कभी नीला, कभी गुलाबी । और लम्बी सपाट दो तरफी सड़क, कम आर-पार बीच में कनेर और एक अनजाने बेहद हरे झाड़ीनुमा पेड़ । किन्तु यह सब इतर मुख्य वे खम्भे । मन करता था कुछ लिखूँ, उन्हें देख कर रोज मन करता था लिख ही डालूँ । महीना भर ऊपर, से और रोज मन करता रहा और अन्ततः जब लिखा तो खम्भे गायब ही हो गये थे लगभग लेकिन फिर भी मैं सन्तुष्ट थीं ।

फैली हुई बाहों में पुकारता आकाश, हर मटमैले पानी के गढ़े को गुंजाता है, हमने भी मन्दिरों के घंटों / पट्टी की इबारतों / दोस्तों के कह कहो को / खुद में गुँजाया है / [८]

शकुंत माथुर और कीर्ति चौधरी की तरह इन्दु जैन भी अतिरिक्त सुख से बोझिल हैं । यह दूसरी बात है कि यह सुख उनमें एक अपराध भावना भी जगाता है निजी अगाध सुख मुझे बहुत डराता रहता है । शायद इसे ही नियतिवादिता कहेगे । कहीं न कहीं दण्डित होने की भावना । या सुख को अपराध मानने की क्रिश्चियन भावना कहीं से भीतर घुस आई थी । मन कहता है कविता में इस सुख को स्वीकार कर लूँ और नत हो लूँ - मन करता है या कहूँ करता -

अकेली खुशियों के बोझ से त्रस्त / अपराधी की भावना से ग्रस्त / आतुर हो खुशी की फूल-भरी टहनी पर / कहीं कोई कीट ढूँढ़ती हूँ / एक छलनी हुआ पत्ता / जो सान्त्वना का लेप कर जाये / शर्म से झुकी, मेरी गदरन, तो उठ जाये /

''चौसठ कविताएँ' इन्दु जैन का पहला कविता-संग्रह है । यह बात ध्यान मे रखने लायक है कि यह सन् १६६४ के आस-पास का प्रकाशन है । हर कविता-संग्रह के फ्लैप पर कुछ लिखा जाता है जिसे प्रायः उन कविताओं की विशेषता समझ लिया जाता है । इस दृष्टि से चौसठ कविताओं की विशेषताएँ है 'यह इसलिए नहीं कि श्रेष्ठ कविता के निकष पर ये खरी उतरती हैं, बल्कि इसलिए कि ये हिन्दी कविता की अधुनातन दिशा, भावबोध और शिल्प की प्रामाणिक उपलब्धि का संकेत देती हैं । और इसलिए भी कि सब प्रकारों के उलझावों से मुक्त है और अपना अर्थ बड़ी सहजता के साथ स्वयं खोलती है, बिल्कुल नया, मोहक । सब चौंसठ कविताएँ हैं पर प्रत्येक जैसे एक सौम्य बिजली की कौंध का निर्णय हो जो अन्दर की अकुलाहट को किसी दर्द या उल्लास को, सतरंगी प्रकाश रेखाओं की भाषा मे उकेरा जाए

स्वभावतः इसके लिए उपयुक्त शब्दों की खोज-पकड़ भी गई है और परिचित शब्दों को नयी चेतना, नयी भाव ध्वनि दी गई है ।

इन्दु जैन का दूसरा संग्रह अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है 'आँख से भी छोटी चिड़िया' संवेदना एवं अभिव्यक्ति के स्तर में पकाव तो आया है, परन्तु बदलाव नहीं । उनकी समस्त कविताओं की यदि कोई एक नाम देने की आवश्यकता पड़े तो उसके लिए उनकी ही एक कविता का शीर्षक उपयुक्त होगा "प्यार के कई नाम हैं ।" वस्तुतः उनकी कविताओं में प्यार को कई नामों में पहचानने और जीने की कोशिश है और उनका दर्द इन नामों के बीच दरारों से फूटता हुआ दर्द है ।

किरण जैन की कविताएँ परिवेश के साथ थोड़ा अधिक जुड़ी हैं । यह जुड़ाव कहीं-कहीं जेनुइन है कहीं-कहीं फैशन मात्र । उन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए लिखा है 'पहले जब अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में सोचा करती थी, लगता था मेरा दिल एक बस स्टाप है जहाँ दिशा-दिशा से आकर बसें रुकती हैं । बसों से कविताओं के कुछ भाव उतर पड़ते हैं और मेरी घुटन, बेचैनी उन पर चढ़ जाती है । वे बसें कहाँ से आती हैं, क्यों रुकती हैं प्रश्न निरर्थक है हाँ ये अक्सर आती हैं और कई-कई सवारियाँ एक साथ उतर पड़ती हैं । पर उन सवारियो को सजाने सवाँरने में मुझे कई दिन लग जाते हैं ।

'स्वर परिवेश के' किरण जैन की कविताओं का पहला संग्रह है, जिसमे उनका निजी परिवेश तो व्यक्त हुआ है परन्तु बाहर झाँकने के लिए झरोखे और खिड़कियाँ भी हैं जिससे बाहर और आस-पास का कितना कुछ सिमिट आया है । कुछ रचनाओं में हल्के-फुल्के विद्रोह के स्वर भी उभरे हैं । महानगरीय जीवन की ऊब और कर्मरत जिन्दगी ने जैसे व्यस्तता दी है, वैसे ही तनाव, दाग और खरोंच भी, परन्तु कवयित्री ने इन सबको अपने निजी जिन्दगी के आइने में ज्यादा देखा है अतः कविताएँ सीमित वृत्त में बँधती चली गई हैं इनमें आरम्भिक अनपढ़पन है । कहने का ढंग सीधा है, वह वहीं अधिक प्रभावशाली हैं जहाँ कवयित्री ने अपने रोजमर्रा के परिवेश को उजागर किया है । उदाहरण के लिए 'गर्मी के सूरज' की अनुभूति -

> *परेशान हो अन्त में / टीचर ने / पढ़ाई चोर मुंह जोर / शरारती बालक को / खड़ा कर दिया बेंच पर / जो उबल कर क्रोध से / सारे दिन घूमता रहा सबको / शोले बरसाता रहा आग के / फिर संझा के धुँधलके में, नजर बचाकर सबकी, गायब हो गया चुपके से / पश्चिम की खिड़की से /*[१०]

'यात्रा और यात्रा' किरण जैन का दूसरा कविता संग्रह है । कवयित्री ने इसे तीन खंडों में बाँटा है यात्रा और यात्राएँ तथा परिशिष्ट यात्रा । यात्रा के अन्तर्गत प्रेम और पारिवारिक परिवेश की अनुभूतियाँ हैं । ये कविताएँ विमुग्धता की है ।

> *अपने होठों की सामर्थ्य से / मेरे होठों के आकाश पर / तुमने जब छोटे-बड़ विद्युत द्वीप जलाए / कि चाँद-सूरज के कक्ष चमकाए / मेरे दिल का कोन, कोना / दमकने लगा शुभ्र प्रकाश से /*

और यात्राएँ शीर्षक से संकलित कविताओं में कहा गया है कि उनमे महानगर की जिन विषमताओं विसंगतियों और यंत्रणाओं को कवयित्री ने देखा समझा है, तटस्थ होकर महीन संवेदनाओं में बुन दिया है । उसमें शहरी जीवन के अभिशाप-यांत्रिक जड़ता, अजनबी बोध, संकट और संत्रास ने अभिव्यक्ति पाई है।' बहुत कुछ, महानगरीय कविता का यह चालू मुहावरा है -

'भीड़ के मुखौटे उढ़ा कर / दूसरों के कपड़े पहनाकर / मुझे फँसा दिया गया है एक तंग कुर्सी में / जहाँ एक किस्म माल को / एक तौल मुस्कान देकर / खरीदना होता है / मेरा निजत्व कहीं खो गया है / और मैं ट्रेडमार्क छपी / मात्र वस्तु बन गई हूँ ।'

कीर्ति चौधरी की तरह किरण जैन को भी पुल्लिंग में बोलने का शौक है और इसमें नयापन लग सकता है पर उसमें अपने ही मुहावरे में बोलने का प्रयास कम मिलता है - वह आम लहजे को विशिष्टता नहीं दे पाती ।

कवयित्री कान्ता ने भी अपने दो कविता संग्रह प्रकाशित किए हैं । उनका पहला संग्रह है 'जो कुछ भी देखती हूँ' जिसमें वकौल डॉ० रमेश कुन्तल मेघ के चारुत्व और चमत्कार की प्रधानता है । इनमें विरोधाभास द्वारा काव्य सत्यों का उद्घाटन हुआ है । प्राकृतिक दृश्यों द्वारा कार्य-करण की अटूट श्रृंखला पेश करके तर्कजाल का काव्य हुआ । (समर्पण, क्योंकि यह दिन, गुलछरी, और धूप, विदा, टूट-फूट कर गिरते हैं पंख) आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं । अप्रस्तुतों का उपभोग चमत्कार तत्व की सहायता करता है । अतः यह चमत्कार अद्भुत सा प्रसूत न होकर अनुभूति जन्य है । विरोधाभास और कार्य-करण की जान परंपरा ही इस तत्व को उभार देती है । अतः हमारा दूसरा सूत्र है 'चारुत्व' और 'चमत्कार' इन कविताओं में नई रंगत लेकर आए हैं ।"[१२]

कान्ता का दूसरा संग्रह 'समयातीत' है जिसमें कवियित्री की कोई नई पहचान नहीं उभरती । वर्षों तक कान्ता जी कल्पना के सम्पादन मण्डल में रही है अतः परिवेश एवं प्रकाशन की सुविधायें दोनों ही उन्होंने सहज प्राप्त की है । आलोचक भी उन्हें सर्वथा उपेक्षित नहीं कर सके हैं लेकिन इस चालू लेबिल के साथ यह कहना कि ये कवितायें एक नितान्त निजी अन्तर्जगत से सम्बद्ध है, व्यक्तिमन के एकान्त जीवन से ही प्रेरित और सीमित कवयित्री की विशिष्ट संवेदना को भी परिभाषित करने के लिए अपर्याप्त हैं । किन्तु शायद इसी कारण पाठक के किन्हीं खस पूर्वाग्रहों को भी पहले से ही अनुकूलित (सीमित नहीं) कर लेने और उनका भी जरा अलग किस्म के काव्य के समुचित ग्रहण एवं आस्वादन की दिशा मे भरसक उपयोग कर लेने की जरूरत महसूस होती है उस नाते इस तथ्य को भी प्रारम्भ से ही रेखांकित कर लेने में हर्ज नहीं है ।"

सीमित भावबोध और अपेक्षाकृत एक रस कथ्य के बावजूद, शिल्प की कुछेक नई भंगिमायें नये स्रोत को उद्घाटित करती है । वैसे भी छोटी कविताओं का सीमित सफल निर्वाह कवयित्री की विशेषता माना जा सकता है इतना अवश्य

है कि कहीं तो अनुभूति के दबाव में अन्तर्चित्र केन्द्र में आकर उजागर हो जाता है, तो कहीं थोड़ी कसर के कारण धुँधला रह जाता है ।

ज़रा देर के लगाव-सा / अपने आपसे टूट गया मन / फिर भी / और कस गये / बन्धन, बड़ा ऽ, बड़ा अजीब है ढब / समय का ।

वस्तुतः देखा जाए तो संग्रह की हर कविता इसी 'समय' के अजीब ढब को पकड़ने का प्रयास है । समय ही इन रचनाओं पर आदि से अन्त तक छाया हुआ है । पूरा संग्रह जैसे नाटक का एक अंक है और हर कविता उसका एक दृश्य । और हर दृश्य को फेंकता-समेटता समय । पात्र है - कवि की संवेदना जो उस निरपेक्ष सूत्र धार के हाथों पुतलियों की तरह गतिशील है ।

इस पूरी भावधारा से थोड़ा हटकर दो नाम ऐसे हैं जो उल्लेखनीय हैं, यद्यपि पृथक-पृथक कारणों से । पहला नाम अमृता भारती का है । गुणात्मकता और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से उनकी जितनी चर्चा अपेक्षित थी वह नही हुई । यूँ-कम ज्यादा, ऐसा सबके साथ ही घटा । अब तक अमृता भारती के चार संग्रह प्रकाशित हुए हैं, 'मैं तट पर हूँ' १९७१ "मिट्टी पर साथ-साथ" १९७६, "आज या कल या सौ बरस बाद" १९७५ "मैंने नहीं लिखी कविता" १९७८ मात्रा की दृष्टि से यह एक अच्छी शुरुआत है गुणात्मकता में बिना किसी गिरावट के । 'मै तट पर हूँ की कविताओं का स्वर अत्यन्त व्यक्तिगत होते हुए भी अपने से परे की किसी और सूक्ष्मतर सुन्दरतर आत्मरूपता को पाने के लिए अपने आप को तरशता हुआ चलता है, इसीलिए इन कविताओं को हम महादेवी जैसा शुद्ध रहस्यवाद न कहें . ' ' ' तो भी ' ' ' एक रहस्यात्मक धुंधलके की सृष्टि अवश्य करता है -

तुम्हारी इच्छा बन गयी है / मेरे जन्म का कारण / तुम्हारी अति चेतना / मेरे जीवन की अभिव्यक्ति / गति और स्थिति से परे / अब मैं केवल एक नैरन्तर्य हूँ ।

'आज या कल सौ बरस बाद' अमृता भारती की एक लम्बी कविता है जिसमें अनेक छोटी-छोटी आवृत्तियाँ मिलकर एक श्रृंखला का निर्माण करती हैं ।

यह एक कविता है । ये बहुत सी कविताएं हैं । यह मैं हूँ ।

वास्तव में, यह कथन कवयित्री के पूरे रचना-संसार को उद्घाटित करता है । कविता आत्मान्वेषण से शुरू होती है और वैयक्तिक सामाजिक दृष्टियों को फैलाती हुई चलती है । विद्रोह और संघर्ष की वैयक्तिक परिकल्पना में पहला तीव्रतम अनुभूत बिन्दु यातना का ही है ।

जिन्हें साथ नहीं लिया था / उन्हें तो साथ नहीं ही होना था / पर जो साथ थे / वे भी अब कहाँ है / वे वस्तुएं वे लोग / वैयक्तिक देश का पर्यवसान अन्ततः मानवीय करुणा में हुआ है ।

वैयक्तिक प्रसंगों में कवयित्री के मन पर छितराई हुई करुणा व्यापक मानवीय चेतना से जुड़ गई है ' वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक स्तर पर पत्थर की तरह

वधी हुई करुणा' *वहुत बड़ा बोझ है /* कवयित्री जानती है कि यह बोझ *'तब तक मेरे कंधे तोड़ता रहेगा / जब तक / मिट्टी में धंसे मेरे पैर / पृथ्वी के बहुत बड़े हिस्से के साथ ऊपर नहीं उठते* ये पंक्तियाँ निरी आकांक्षा या बड़बोली अभिव्यक्ति नही हैं वे कवयित्री के संवेदनात्मक ज्ञान (संकल्प भी) को 'प्रति फलित करती हे। यहाँ अनुभव का तात्कालिक और वैयक्तिक सन्दर्भ सामाजिक सन्दर्भ में घुल गया है / *जलना / और किसी को जलते हुए देखना / इन दोनों की आँच / पता नही कब बराबर हो गयी* / संवेदनात्मक स्तरों पर चलने वाला यह अनुचिंतन मानवीय आशयों को गहराने वाला है ।[१४]

"मैंने नहीं लिखी कविता" के सम्बन्ध में स्वयं कवयित्री का यह कथन उल्लेखनीय है । 'मैंने नहीं लिखी कविता' एक शीर्षक है जो मेरी आज तक की सारी कविताओं का शीर्षक हो सकता है या मेरी उस कविता का शीर्षक जो अभी लिखी नही गई है । लेकिन इसमें निराशा नहीं है पश्चाताप भी नहीं, न अपने प्रति कोई आक्रोश है न आक्षेप । यह एक स्वीकार है जो मुझे मेरी कविता से मुक्त करता है । यह एक स्वीकार है जो मुझे एक वहुत बड़ी कविता से जोड़ता है - मेरी अगली कविता से जो 'प्रतिभा' के अभिज्ञान और 'शिल्प' के चमत्कार से अलग एक कविता हो सकती है, जो समय से चलकर भी समय के बाहर चल सकती है, क्योंकि उसे वार-बार लौटना है आदमी के करीब, उसकी यातना और उसके आनन्द के करीब।[१५]

कुल मिलाकर अमृता भारती की कविता का एक अलग व्यक्तित्व है, केवल कवयित्रियों के रचना संसार में ही नहीं समकालीन कविता धारा में भी । इस स्वतन्त्र व्यक्तित्व को गढ़ने में उनकी रचनात्मक भाषा की बड़ी हिस्सेदारी है। नयी कविता के कवियों में नरेश मेहता को जिस नयी भावबोध की भाषा के लिए याद किया जाता है उसी प्रकार एक नयी कुहेलिका मयी भाषा अमृता ने भी गढ़ी है । यह दूसरी बात है कि आधुनिकता की अभिव्यक्ति के लिए वह कहाँ तक मौजू है ।

> *सूर्यमाला का एकान्त / खोखला हो गया / आतप की दुपहर / लता कुंज में शिलापट पर व्यतीत करने के वाद / मौलश्री के वृक्ष की आवाज / अब नहीं ठहरती / कहीं आस पास, अब नहीं होती वातचीत / अंजीर के पत्तों में /*

दूसरा नाम, एक विल्कुल दूसरी सीमा का नाम है कवयित्री मोना गुलाटी का । अकविता आन्दोलन से जुड़े होने और अकविता की एक मात्र कवयित्री होने के कारण ही नहीं बल्कि उस सम्पूर्ण विध्वंस और जिज्ञासामय विद्रोह के लिए भी जिसके लिए अकविता आन्दोलन प्रख्यात रहा है । और जो अन्य किसी भी नारी साहित्यकार में दिखायी नहीं देता । उन्हीं का वक्तव्य है ।

'मुझे अपने परिचितों और परिवेश में कोई रुचि नहीं है ' मेरे अह ने मुझे व्यक्तिवादी समीक्षक वना दिया है और निरपेक्ष और निम्मग स्थिति म पटक

दिया है ······ निरासक्त व्यक्ति केवल अपनी खिल्ली उड़ाता है ····
मृत्यु केवल बौद्धिक यंत्रणा रही है, एक रूढ़ि से टूट जाने की या संस्कार से मुक्त होने की । मैं अपने पूर्वजों से कुछ प्राप्त नहीं करना चाहती न उनकी जुगुप्सायें और न ही उनके आदर्श और भौंड़ी आदतें ····· सेक्स मेरे लिए वितृष्णा का विषय है ····· मुझे उन व्यक्तियों के प्रति अपार असन्तोष होने लगता है जिन्होंने नारी काव्य की रचना की है चाहे वह कबीर हों या तुलसी या मैथिलीशरण गुप्त या धर्मवीर भारती या जगदीश चतुर्वेदी ······ मेरी इच्छा पुरुष इतिहास को अन्त कर देने की है ······ नर शताब्दी में रहते रहते मेरे पूरे जिस्म पर फफोले हो गए हैं ······।'[१६]

निषेध, विध्वंस, उग्र विद्रोह, मारणेच्छा और बेहद्दी मैदान का खुलापन, अकविता मात्र की विशेषतायें है और वे मोना गुलाटी में भी अपनी पूरी शक्ति और सीमाओं के साथ मिलती हैं । साहसिक वक्तव्यों और बात के अनूठेपन ने उन्हे नारियों कवयित्रियों . . . में एक विशेष स्थान दिलाया है इसमें सन्देह नहीं इसे मोना गुलाटी की कविताओं का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि उन्हें डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय जैसे सशक्त समीक्षक की रचनात्मक दृष्टि प्राप्त है । 'जिसे जोश से कहा जाता है वह रचना के मूल में गूंजता गुर्राता है और उसकी खीच में ऐसे शब्द और जुमले आते हैं जो पाठक को आकर्षित करते हैं । इस आकर्षण का कारण वही 'विदग्धता' या बात कहने का चमत्कारिक ढंग है जो किसी तेज तर्रार शख्सियत मे ही उभरता है । ·········· कविता के लिए मन्दता या टिमटिमाहट अधिक खतरनाक चीज है उग्रता निषेध अस्वीकृति प्रहार और पक्ष धरता से केवल न विद्रोही मानसिकता बनती है, बल्कि कविता विद्युतीकृत (इलैक्ट्री फाइड) हो जाती है । मोना में केवल विद्युतीकरण की ही शक्ति नहीं है अपितु उनमें काव्य पंक्ति से बज्रपात की भी शक्ति है ।[१७]'' इस बज्रपात का एक उदाहरण ही पर्याप्त से अधिक होगा।

''रतिक्रिया करने के लिए आकाश यदि गहरा हो जाय समुद्र की भाँति तो भी वह नहीं दे पाएगा अंडा ।''

अकविता आन्दोलन स्वयं ही दीर्घजीवी नहीं रहा आज उसकी ऐतिहासिक भूमिका ही शेष है, ऐसी स्थिति में बिना किसी सार्थकता बोध के अपने को दोहराते जाना अथवा मौन हो जाना एक ही बात है ।

स्नेहमयी चौधरी के दो कविता संग्रह प्रकाश में आए हैं और 'पूरा गलत पाठ' । संवेदना के स्तर पर उनमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है । एक कामकाजी विवाहिता महिला का विभाजित व्यक्तित्व इनमें पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त हुआ है आंशिक रूप से पूरी तरह न जी पाने का महानगरीय बोध, सीधे-बिना किसी व्यवधान के इन कविताओं पर छाया है *'ऐसा कितने हिस्सों में बांट दिया है अपने को / फिर भी किसी अंश में / पूरा नहीं जी पाती ।* 'यह इन कविताओं का सामान्य सवेदन स्तर है जिसके साथ कचोट शिकायत द्वन्द्व और तनाव लिपटे हुए हैं

यहॉ इनका सन्दर्भ वाहरी दुनियां समाज या कोई व्यवस्था नहीं है, बल्कि इनका एक अन्तरंग आत्मीय संसार है . . . पारिवारिक या पति पत्नी के सम्बन्धों या असम्बन्धों का संसार, जहाँ व्यक्तित्व के विभाजन की प्रक्रिया शुरू होती है । इस सन्दर्भ में औरत के अस्तित्वहीन होते जाने की यातना को कवयित्री सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकी है

कहाँ है उसका अस्तित्व ? भ्रमित हो गयी है वह / चकित हो गयी है / क्या कहीं है भी ?[१८]

यह कवितायें वेहद सीमित व्यक्तित्व एवं परिवेश की गहराई से उपजी है और इनमें एक प्रकार की बोझिल समानान्तरता है ।

केवल दो अन्य नामों का उल्लेख कर यह चर्चा समाप्त करना चाहूँगी (शेष नाम और भी हैं) पहला नाम है सुनीता जैन का । अपेक्षाकृत कम समय मे उनके दो काव्य संग्रह प्रकाश में आए हैं, वड़े प्रतिष्ठानों से प्रकाशित हुए हैं और चर्चित भी । कवयित्रियों के समग्र रचना संसार पर एक प्रबल आरोप जो बार-वार लगाया जाता है उनके सीमित परिवेश का, या जैसा कि कुछ तथाकथित समीक्षक थोडे भोड़ेपन से कहते हैं स्त्रैणता का । यथावसर वही कविता के सवसे वड़े गुण मे परिवर्तित हो जाता है ।

जैसे 'इन कविताओं' की अपनी पहचान है । आज की एकमुखी कविताओं और गीतों की भीड़ में अपनी एक पहचान वना लेना किसी कविता की बहुत बड़ी विशेषता समझा जाता है । इन कविताओं को पढ़ते समय ऐसा अनुभव होता है कि हम कुछ ताजा और विशिष्ट अनुभवों से गुजर रहे हैं । यह सही है कि इन कविताओं की दुनियाँ बहुत बड़ी नहीं है इनमें समकालीन यथार्थ के बहु आयामी स्वर नहीं हैं लेकिन जो दुनियाँ है वह बहुत आत्मीय है ताजा है और कवयित्री के प्रामाणिक अनुभवों से बनी हैं । जाने पहचाने छोटे-छोटे शब्दों, प्रकृति और परिवार के टटके बिम्बों, हल्की लयात्मकता से निर्मित प्रेम संवेदना की ये कवितायें अनेक-अनेक छोटे-छोटे गन्ध रंग वाले फूलों की तरह खिली मालूम पड़ती है ।"[१६]

छुआ किसने फूल हो गया / धरती का मैला रंग / चटक कर लागा किसके अंग / बीन सा / कुहुक उठा रसभार भीगा मन / उमड़ा तन / अंगार हो गया /

ऐसा नहीं है कि यह आत्मीय संसार सभी के लिए प्रशस्य है । सुनीता के लिए एक विशेष स्थिति है जैसा कि डॉ० चन्द्रकान्त वादिवडेकर जी की धर्मयुग मे लिखे आलेख से स्पष्ट होता है । वह विशेषता यह है कि सुनीता जी अंग्रेजी में उच्च शिक्षा प्राप्त है वह भी अमरीका के विश्वविद्यालय से । आधुनिक रखरखाव मे उन्होंने इन भारतीय संस्कारों को मेंहदी की तरह कविताओं में रचाया है ।

रच दे माँ हाथों में मेंहदी / मेंहदी ज्यों ताँवे के जैसी / दमके बदली सूरज ऊपर / छाकर कोई शाम / और शाम हो चैत मास की / चुपके चुपके रंगीली

सी / फूल खिले सांसों में जैसे / महके उनका नाम / भर दे माँ, आँखो मे काजल / काली सूर्यमुखी के मन सी / अंज दे मेरी आँख तो देखूँ / देख के जिनको जन्म-जन्म की / थिरक गयी पहचान /

इस तरह की आलोचना प्रक्रिया पर अन्य कोई टिप्पणी व्यर्थ है ।

दूसरा नाम मालती शर्मा का लेना चाहूंगी । 'निर्वासन की आँधी' उनका पहला कविता संग्रह है और इस दृष्टि से काफी परिपक्व है । उसमें धीमी-धीमी रोमानी गध नहीं है, समकालीन दुनियां से सीधे सवाल जवाव का तेवर है । नारों और छद्म मुद्राओं से अलग उनकी कविता एक सही कवि व्यक्तित्व का परिचय देती है। ये कवितायें दर्द को पचाकर उसके ऊपर उठक र लिखी गयी है इसलिए इनकी तटस्थता को ठंडेपन का पर्याय नहीं समझना चाहिए । यह बर्फ का कड़ापन है जो जल के घनीभूत होने से पैदा हुआ है ।[२०]

पालतू कुत्ता / बफादार जानवर होता है / मगर पालतू औरत / उससे कुछ ज्यादा ही / वह तो केवल पूँछ हिलाता है / औरत पूरा शरीर /

कवयित्रियों के रचना संसार की एक छोटी सी यात्रा हमें कई निष्कर्षों से होकर गुजारती है । यह सच है, कि किसी भी कवयित्री ने कविता लेखन एव प्रकाशन को बहुत गम्भीर ढंग से नहीं लिया । सुनने में यह बात अच्छी नहीं लगती, परन्तु है सच । मूलतः कविता उनकी घुमड़ी हुई अनुभूतियों एवं उलझी हुई ग्रन्थियो की अभिव्यक्ति का साधन है संघर्ष का हथियार नहीं । कविता अँगूठी में जड़ा हुआ एक अतिरिक्त नगीना है । इन्दु जैन की शब्दावली दें तो वास्तव में हम अधिकांशत. अपने आवेग को मार्ग देने और मन पर बहुत गहरे उतरे बोझ को हल्का करने के लिए लिखती हैं । हमारे लिए लिखना ऐसा ही है जैसे बोझिल शाम के धुँधलके मे हाथों में मुख छिपाकर सिसक पड़ना । उसमें अनुभूति ही अनुभूति है, विचारवान सुलझाव के लिए स्थान कम है ।[२१] परन्तु अनुभूति की तीव्रता और स्वरूप सदैव एक से प्रभावकारी नहीं रहते जब तक कि वे किसी बृहत्तर मानवीय सन्दर्भों से नहीं जुड़ते, इसलिए ये कवितायें फुलझड़ियों की तरह रंग विरंगा प्रकाश कर अँधेरे मे खिलती हैं, अँधेरा दूर नहीं करतीं । वैचारिक निरपेक्षता, गुटबाजी से दूर तो अवश्य रहती हैं परन्तु अपेक्षित ऊष्मा का अभाव भी सूचित करती हैं । इस सम्बन्ध मे सीमित परिवेश की बात करना अब एक चालू मुहावरा हो गया है कभी इसे गुण माना जाता है कभी 'दोष' जब जैसी समीक्षक को आवश्यकता होती है अथवा उससे अपेक्षा की जाती है । इसमें सन्देह नहीं कि रोजमर्रा के जीवन और पारिवारिक सम्बन्धों-असम्बन्धों के सच्चे और ताजा चित्र कवयित्रियों ने दिए हैं । परन्तु यहाँ भी एक विचित्र प्रकार का अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है । सखी, नारी, प्रेयसी और पत्नी के रूप में जहाँ अनेक खट्टे मीठे अनुभवों का समावेश हुआ है वहीं नारी के माँ रूप में चित्रण शून्य के बराबर ही है । ऐसा किन कारणों से घटित हुआ है, यह गभीरता पूर्वक विचार करने की बात है ।

स्नेहमयी चौधरी के साक्ष्य पर शिशु माँ के रचना संसार से निर्वासित है
मैंने रात में सोते समय कभी / नानी की कहानियाँ नहीं सुनाई / खाने-पीने में उसकी रुचि नहीं पूछी / साथ बैठकर उसके दोस्तों के साथ होने वाले / लड़ाई-झगड़े नहीं सुलझाये /

नारी स्वातन्त्र्य को लेकर चाहे जो कुठायें रही हों परन्तु वर्ग गत कुठाये उनमें नहीं हैं, क्योंकि वे प्रायः उच्च-मध्य वर्ग या उच्चवर्ग से सम्बन्ध रखती है । आर्थिक संघर्ष और अर्थ प्रधान दुनियाँ में अपने अस्तित्व को बनाए रखने की जद्दोजहद उनमें नहीं है । अतः हमें महादेवी तो मिली मुक्तिबोध नहीं । इनमें से कुछ तो अपने सुख की अधिकता से भयभीत भी हैं । इसलिए निरन्तर चट्टानो से चोटिल होते हुए पैरों के निशान इन कविताओं में नहीं हैं, हाँ अस्मिता की खोज की बेचैनी और तीव्र छटपटाहट अवश्य है । प्रायः कवयित्रियों ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें प्रारम्भ से ही साहित्यिक वातावरण एवं सुविधायें मिलीं । किसी न किसी प्रतिष्ठित साहित्यकार का वरदहस्त भी प्राप्त हुआ, अतः यह मानना कि उनकी प्रतिभा को कुचल दिया गया बहुत ठीक नहीं है । समयाभाव और पारिवारिक जिम्मेदारियों की बात उठाई जा सकती है किन्तु एक सीमित अंश में ही । अपने साहित्यिक परिवेश की बात करते हुए किसी भी कवयित्री ने अपने साहित्यिक प्रभाव की चर्चा नहीं की है, न ही देशी विदेशी अपने प्रिय साहित्यकारों के नाम गिनाए हैं । इसका क्या अर्थ लगाया जाय ? यह कि कविता रचना में वे किसी भी प्रकार के व्यापक अध्ययन का महत्व स्वीकार नहीं करती ? वस्तुतः किसी भी रचना के लिए स्वाध्याय सहायक जड़ों की श्रृंखला का विकास करता है, जिससे रचना धार्मिता बहुयामी सम्भावनाओं से युक्त होती है । रचना में मारक प्रभाव उत्पन्न होता है और रचनाकार एक व्यापक परिवेश से जुड़ता है ।

लेखन को, खासतौर पर कविता-लेखन को गम्भीरता से न लेने का परिणाम यह भी हुआ है कि लम्बे रचना काल में कृतियों की मात्रा कम है । पर मैं समझती हूँ, जो बात ज्यादा चिन्ताजनक मानी जानी चाहिए, वह है इन कविताओं की पारस्परिक एकरसता, बनावट की तनाव हीनता । इसलिए कवयित्रियां बहुत शीघ्र ही अपने मैनेरिज्म का शिकार होने लगती हैं । अपने को निरन्तर काटते रहने और गढ़ते रहने की प्रक्रिया बहुत कम दिखायी पड़ती है । जहाँ यह शक्ति है वहाँ कविता ने दीर्घ जीवन पाया है ।

कवयित्रियों ने कविता के जन्म को सहज इन्ट्यूशनल प्रक्रिया माना है अतः शिल्पगत तराश, और रचनात्मक भाषा के आविष्कार लिए अनुभव के संसार से निरन्तर टकराने की गति बहुत मध्यम है, कहीं-कहीं बिल्कुल नहीं भी है । इस सन्दर्भ में निर्मल वर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है ।

'कविता में अकेला शब्द महज अपने सघनत्व और अप्रत्याशित रूप में प्रगट होने की प्रक्रिया में एक अनोखा अर्थ दे सकता है अपने आस पास के शब्दो को फोड़ की तरफ एक मीनार की तरह उठता हुआ [२]

इस दृष्टि से कवयित्रियों का भाषा-संसार एकायामी है और बहुधा घूम-घूमकर आवर्त्तों की सृष्टि करता है । रूसी कवयित्री अन्ना अख्मातोवा की गीतिधर्मी कविता के लिए कहा गया है कि वह शुद्ध संवेदना की साँय साँय से अग्निगर्भी अभिव्यक्ति तक फैली हुई है परन्तु ऐसी उक्ति इन कविताओं पर नहीं घटती । समकालीन कवयित्रियों की भाषा में इकहरापन है जो एक बहुत सीमित संवेदनवृत्त की उपज है - यह संवेदना घरेलू है तथा प्रकृति में भी अलंकार धर्मी है और एक सीमित शब्दावली गहरी रचनात्मक उत्तेजना उत्पन्न नहीं करती ।

अन्त में एक टिप्पणी, समकालीन आलोचकों पर, बिना किसी रोश और लाग लपेट के । सवाल है, कविता को मानवीय साजिश के खिलाफ एक हथियार मानने वाले समर्थ आलोचक, आलोचना को किस साजिश के तहत मानते हैं ? समकालीन कविता पर जमकर लिखने वाले महत्वपूर्ण नामों में डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव[२३], डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय[२४], डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी[२५], अशोक बाजपेयी[२६], मलयज[२७], जगदीश नारायण श्रीवास्तव[२८], डॉ० यश गुलाटी[२६], डॉ० मदन गुलाटी[३०], डॉ० नरेन्द्र मोहन[३१] आदि-आदि हैं । अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहॉय, सर्वेश्वर, कुंवर दारायण, विजय देव नारायण शाही, श्रीकान्त वर्मा, केदार नाथ सिंह, धूमिल लीलाधर जगूड़ी, देवेन्द्र कुमार, ऋतुराज, विनोद कुमार शुक्ल, वेणुगोपाल, कुमार विमल, विष्णु खरे, प्रयाग शुक्ल आदि आदि अनेक कवियों की चर्चा बार-बार हुई लेकिन इन समीक्षकों ने अपनी बहस के पक्ष या विपक्ष में, कहीं भी किसी कवयित्री के कथन को साक्ष्य नहीं माना है जब तक वैसा करने की बिल्कुल मजबूरी ही सामने न आ गयी हो । यह हो सकता है, या जैसा कि माना जाता है, कि कवयित्री का रचना संसार सीमित है, अनुभव आत्मोन्मुख और भाषा तनावहीन है । हो सकता है उनका रचनात्मक मूल्य समीक्षकों की दृष्टि में न भी हो पर यह भी उन्हें साबित कर दिखाना होगा । कविताओं को कविताओं के आधार पर ही खारिज किया जाना चाहिए, किसी पचाए हुए पूर्वाग्रह के आधार पर नहीं । उपेक्षा से अधिक मारक कोई मन्त्र नहीं होता और यह मन्त्र समकालीन कविता के समीक्षक कब तक प्रयोग करते रहेंगे ?

सन्दर्भ

१- दूसरा सप्तक, सम्पादक, अज्ञेय, वक्तव्य
२- मेरी काव्य-प्रक्रिया, शकुन्त माथुर, ज्ञानोदय, अगस्त १९६८
३- कल्पना, जनवरी ६२
४- कल्पना, २१३, १९६३
५- तीसरा सप्तक, सम्पादक, अज्ञेय, वक्तव्य
६- कल्पना, ११३, सितम्बर ६०
७- ज्ञानोदय, जुलाई १९६८

८- वही।
६- सृजन के क्षण, किरण जैन, ज्ञानोदय, सितम्बर १६६८
१०- नयी कविता, नये धरातल. डॉ० हरिचरण शर्मा पृष्ठ ३५६
११- कल्पना ६४, फरवरी १६७०
१२- कल्पना १२६, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ का लेख ।
१३- समयातीत, रमेश चन्द्र शाह
१४- वैचारिक कविता की भूमिका डॉ० नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ १०५
१५- मैंने नहीं लिखी कविता, आवरण पत्र पर ।
१६- निषेध, परित्राण, समकालीन कविता की भूमिका ६७ ।
१७- डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, समकालीन कविता की भूमिका पृ० ६६
१८- कविता की वैचारिक भूमिका, डॉ० नरेन्द्र मोहन पृष्ठ १०८
१६- राम दरश मिश्र, हो जाने दो मुक्त, भूमिका
२०- डॉ० चन्द्रकान्त बांदिवडेकर फ्लैप पर
२१- ज्ञानोदय, नवोदित लेखिका विशेषांक, इन्दु जैन का वक्तव्य, अप्रैल १६६२
२२- कवि कर्म और काव्य भाषा डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव द्वारा उद्धृत
२३- डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन कविता का व्याकरण
२४- डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, समकालीन कविता की भूमिका
२५- डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, समकालीन हिन्दी कविता
२६- अशोक बाजपेयी, फिलहाल
२७- मलयज, समकालीन कविता से साक्षात्कार
२८- जगदीश नारायण श्रीवास्तव, समकालीन कविता पर एक बहस
२६- डॉ० यश गुलाटी, हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका
३०- डॉ० मदन गुलाटी, समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य

◆ ◆ ◆

हिन्दी साहित्येतिहास का एक अनलिखा पृष्ठ

आज की स्मृतिहीनता इतिहास हीनता की ओर जाने वाली यात्रा है । यदि ऐसा न होता तो राष्ट्रीय आन्दोलन के कई पक्ष नेपथ्य में न पड़ गए होते । स्वतंत्रता की पचासवीं वर्षगाँठ मनाने के लिए उत्सुक राष्ट्र को अपनी दृष्टि साफ करनी चाहिए और अपनी परम्पराएं शुद्ध । विदेशी इतिहासकार ही नहीं, भारतीय मनीषी भी यही मानते हैं कि भारतीय नवजागरण का श्रेय अंग्रेजों के सम्पर्क को है । "भारत की खोज" करते हुए श्री जवाहर लाल नेहरू कहते हैं "अंग्रेज भारत में प्रभुतावान होकर विश्व की अग्रगण्य शक्ति ही इसलिए बन सके कि वे नवीन वृहदयंत्र मूलक औद्योगिक सभ्यता के अग्रदूत थे । वे उस नवीन ऐतिहासिक शक्ति के प्रतिनिधि थे जो विश्व में रूपान्तर लाने वाली थी और इस प्रकार वे, अपने आप से अज्ञात रूप में परिवर्तन और क्रान्ति के अग्रदूत हो गए ।" सीधे-सीधे शायद इस तर्क को काटा नहीं जा सकता, परन्तु इस तर्क का एक दूसरा पहलू भी है जिसे स्वीकार करने का समय अब आ गया है । स्वतंत्रता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में ऐसे कितने ही जन आन्दोलन हैं जो विस्मृति के गर्भ में ढकेल दिए गये है । किसान विद्रोह (सन् १७६३-१८००), आदिवासी, किसानों का विद्रोह (सन् १७६६-६७), असम की निम्न कही जाने वाली जनजातियों का विद्रोह (सन् १७७०-१८८०), नमक के कारीगरों का संग्राम (सन् १७७०-१८०४), चकमा-विद्रोह (सन् १७७६-८६), दक्षिण भारत का सिपाही विद्रोह (१८०६) एव भीलों का विद्रोह (सन् १८१८-१८३१) आदि एक पूरी श्रृंखला है, जिसे सीधे-सीधे अंग्रेजी चेतना से नहीं जोड़ा जा सकता । आज भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का जो इतिहास हमें रटाया जाता है उसमें इन जन-आन्दोलनों का कोई जिक्र ही नही । सच तो यह है कि यह इतिहास के भीतर इतिहास को नकारने की प्रवृत्ति है जिसका पूरा प्रभाव हिन्दी साहित्येतिहास पर भी पड़ा है ।

भारतेन्दु युग से प्रारम्भ होने वाली राष्ट्रीय काव्य-धारा का उन्मेष, युग की अभूतपूर्व घटना है । आधुनिक काल का प्रादुर्भाव इसी, घटना के समय जुड़ता है। भारतेन्दु युग का लगभग समस्त साहित्य राष्ट्रीयता का है, जिसमें एक अनोखा तेज और दिगन्त तक फैलने वाली सुगंध है । इस मुख्य धारा से महिला लेखन अछूता नहीं है । सच तो यह है कि न तो शोध ने अपना कर्त्तव्य निवाहा और न ही साहित्येतिहासकार ने अपना उत्तरदायित्व पूरा किया । महिला-लेखन के राष्ट्रीय स्वरूप को लगभग भुला ही दिया गया है । खास बात यह है कि तत्कालीन इतिहासकार इस संवंध में जागरूक थे । सन् १९३१ में श्री ज्योति प्रसाद निर्मल के समय के इस दौर को रेखाकित करते हुए लिखा है देश इस समय

के लिए आगे बढ़ रहा है । कितने ही कवियो ने देशभक्ति पूर्ण रचनाएं लिखकर समाज को जागृत करने में सहायता प्रदान की और राष्ट्रीय साहित्य का प्रादुर्भाव किया है .... स्त्रियों पर भी ऐसे वातावरण का प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ा । श्री बुन्देलबाला श्री राजदेवी, श्रीमती तोरन देवी शुक्ल "लली" और श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने देश-भक्तिपूर्ण बड़ी सुन्दर और उत्कृष्ट रचनाएं रची हैं और पुरुष कवियों के साथ-साथ इन स्त्री कवियों का भी नाम आदर के साथ लिया जाता है।"

वस्तुतः महिला रचनाकारों का संघर्ष गुलामी के भीतर गुलामी के विरुद्ध था । इस संघर्ष की भूमिका दोहरी थी, इसीलिए इन रचनाओं में राष्ट्रीयचेतना एव नारी-चेतना का जागरण एक साथ होता है । एक के द्वारा दूसरे को उपलब्ध करने का प्रयास है ये रचनाएं । हमारे युग की उपेक्षा से इन रचनाओं का अधिकांश भाग तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के साथ नष्ट हो गया, परन्तु जितना कुछ शेष है, वह सर्वथा एक नए रचना-संसार का द्वारा खोलता है, यद्यपि साहित्येतिहास में इसकी उपस्थिति कहीं दर्ज नहीं है ।

भारतेन्दु युग से लेकर छायावादी युग तक राष्ट्रीय चेतना के ऐसे अनेक स्वर मिलते हैं जो या तो भुला दिए गए या हाशिए पर डाल दिए गए । ऐसे ही कुछ नामों का स्मरण मात्र यहाँ किया जा रहा है । भारतेन्दु युग का प्रथम प्रभाव श्रीमती राजरानी देवी में मिलता है । "प्रमदा प्रमोद" और "सतीसंयुक्ता" नामक उनकी दो पुस्तकें उपलब्ध हैं । ऐतिहासिक बांध के भीतर से फूटती हुई राष्ट्रीय चेतना आने वाले दशकों में निरन्तर गहराती गई, महत्त्वपूर्ण यह भी है कि राष्ट्रीय चेतना की वाहक नारी है । पूरे भारतीय इतिहास में इस तथ्य की अनदेखी हुई है-

देवियों क्या पतन अपना देखकर,
नेत्र से आँसू निकलते हैं नहीं ?
भाग्यहीना क्या स्वयं को
पाप से कलुषित हृदय जलते नहीं ?
क्या तुम्हारी बदन-श्री सब खो गई
उच्च गौरव का नहीं कुछ ध्यान है ?
क्या तुम्हारी आज अवनति हो गई ?
क्या सहायक भी नहीं भगवान् है ?

\+ +

क्या न अब कुछ देश का अभिमान है
खो गई सुखमय सभी स्वाधीनता
हो रहा कितना अधिक अपमान है ?
समुद इसका कौन सकता है बता ।

कविता की लय और भाव वही है जो आगे चलकर भारत भारती मे विकसित हुआ लगभग इसी काल मे गुजराती बाइ बुन्देल बाला की रचनाए

मिलती हैं । हिन्दी के प्रसिद्ध कवि लाला भगवान् दीन की पत्नी "बुन्देल बाला" को केवल छब्बीस वर्ष की आयु प्राप्त हुई परन्तु अल्प मात्रा में उपलब्ध साहित्य की मुख्य धारा राष्ट्रीय चेतना है जो एक अनोखे रूप में प्रस्फुटित हुई है । भारत भूमि की वन्दना सभी देशभक्तों ने अपनी-अपनी तरह से की है, उनमें "माता और पुत्र" की बातचीत की भंगिमा निराली है -

माता-हे प्यारे ! कदापि तू इसको तुच्छ श्याम, रेखा मत मान यह है शैल हिमांचल इसको भारत भूमि पिता पहचान । नेह सहित ज्यों पितु पुत्री का सादर पालन करता है, यह हिम-गिर त्यों ही भारत हित पितृ-भाव हिय धरता है ।

बुन्देल बाला की राष्ट्रीय चेतना सीधे नयी पीढ़ी की ओर अभिमुख है । उनकी "चाहिए ऐसे बालक" अथवा "सावधान" शीर्षक कविताएं इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है -

जो करना है, उसे करैं, अपने निज हाथन्
देश भलाई हेत करैं अभिलाषा लाखन ।
करैं काज बनि कुल-कलंक-कारिख-प्रच्छालक
अब भारत मातहिं चाहिये ऐसे बालक ।

सन् १८८३ में जन्मी श्रीमती गोपाल देवी ने यद्यपि घर में ही शिक्षा प्राप्त की थी परन्तु उनकी रचनाओं में व्याप्त राष्ट्रीय चेतना पत्रकारिता के क्षेत्र मे भी प्रसारित हुयी । उनके पति श्री सुदर्शनाचार्य ने "शिशु" शीर्षक से बालपत्रिका निकाली और श्रीमती गोपाल देवी ने "गृहलक्ष्मी" नामक महिलोपयोगी पत्रिका का सम्पादन किया । इस प्रकार प्रचुर मात्रा में बाल-साहित्य एवं महिलोपयोगी साहित्य लिख अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय चेतना तथा जनजागरण में अपनी भूमिका रेखांकित की । संपादक की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है "देवियों में सबसे प्रथम आप ही के कार्यों में स्त्रियों और बच्चों के क्षेत्र में देशभक्ति का भाव क्रियात्मक रूप में दिखलाई पड़ा ।" पारम्परिक भेड़ और भेड़िये की बाल कथा को काव्य-निबद्ध करते हुए अन्त में वे कहती है

"जो जालिम होता है, उससे बस नहीं चलता एक
करने को वह जुल्म बहाने, लेता ढूँढ़ अनेक ।"

राष्ट्रीय चेतना की काव्य-धारा में श्रीमती तोरण देवी "लली" का नाम विशेष प्रासंगिक है । वर्ष का नया दिवस कवयित्री को राष्ट्र की आगम घड़ियो के प्रति उत्सुक बना देता है । उनका स्वप्न उस युग के जन-जन की साँझी धरोहर है -

जब सबके हृदयों में होगा, सहज आत्म सम्मान ।
जब सब भाँति प्रदर्शित होगा माता का सम्मान
जब टूट चुकेगी सारी इस दृढ़ बंधन की कड़ियाँ
जब नारी सतवन्ती होगी लाज बचाने वाली

जब शिशुओं के मुख पर होगी, स्वतंत्रता की लाली
जब समय आप पहनेगा, सुन्दर मोती की लड़ियाँ
"लली" विश्व में गूँज उठेगा, अमर राष्ट्र का गान
नव संवत तब देखूँगी वे तेरी सुख की घड़ियाँ ।

इस युग की लगभग सभी राष्ट्रीय कविताओं में एक विशिष्ट गुण पाया जाता है और वह यह कि किसी भी भाव-बोध की रचनाएं हों, राष्ट्रीयता उनकी बुनावट में शामिल है । "लली" जी ने प्रेम और भक्ति की कविताएं भी लिखी है, उनमें भी राष्ट्रीयता की अन्तर्धारा प्रवाहित है, यहाँ तक "जसुदा का लाला" भी राष्ट्रीय वेश में दृष्टिगत होता है -

जसुदा के लालन प्यारे कब कुंजों में बिहरोगे ?
कब हे आराध्य हमारे हमसे फिर आन मिलोगे ?
सुख से ही परिपूरित होगा, मिट जायेंगे क्लेश
केवल "लली" इसी आशा में जीवित है यह देश"

इसी प्रकार रामेश्वरी देवी मिश्र "चकोरी" मूलतः प्रेम और व्यथा की कवयित्री हैं, परन्तु उनका "राम" भी राष्ट्रीयता से अछूता नहीं है । दीपावली का पर्व और लक्ष्मी-आराधना उनके लिए देश की "शक्ति" की ही आराधना है -

क्या स्वतंत्रता की देवी हो, अथवा भारत सौभाग्य, कहो,
हम सबमें शक्ति जगाने को, आओ दीपावलि । स्वागत है
या अमर शहीदों की समाधि पर तुम दो फूल चढ़ाने को,
कुछ ममता लेकर आई हो, आओ दीपावलि । स्वागत है !
हम सब स्वतंत्रता वेदी पर, श्रद्धांजलि लेकर खड़ी हुई
हे देवि ! उसे तुम ग्रहण करो, आओ दीपावलि ! स्वागत है ।

सन् १८८४ में जन्मी पुरुषार्थवती का देहान्त बहुत कम आयु में हो गया था, लेकिन जो कुछ भी उन्होंने लिखा और उसका जितना भी अंश आज उपलब्ध हो सका है, वह उन्हें गहरी संवेदना की कवयित्री सिद्ध करने के लिए काफी है । सम्पादक की दृष्टि और बेबाक टिप्पणी आज भी प्रासंगिक है "एक आश्चर्यमयी प्रतिभाशालिनी स्त्री कवि ऐसी सुन्दर सरस और भावुकतापूर्ण कविताओं को लिखकर इहलोक से सिधार भी चुकी और हम उनके नाम से भी परिचित न रहें, इस अक्षय दोष के लिए हमारी उदासीनता बहुत कुछ अंश में उत्तरदायी हो सकती है । तथापि हिन्दी के उन "प्रोपेगेण्डिस्ट" आलोचकों का भी इसमें कुछ कम दोष नहीं है जो अपने किसी विशेष गुट के लेखक अथवा लेखिकाओं की प्रशंसा मे "अहोरुपमहोध्वनिः" के नारे लगाते रहते हैं ।" पुरुषार्थवती की प्रारंम्भिक रचनाए प्रकृति के प्रति एक गहरी अनुरक्ति रखती हैं । "निर्झर" "मीठा जल बरसाने वाले" 'पतझड़ सरिता के प्रति दलित कलिका इसी प्रकार की कविताएं हैं इस

प्रकृति काव्य के साथ देशभक्ति की रचनाएं भी हैं जिनमें "देश भक्ति का राग" महत्वपूर्ण कविता है -

छेड़ दो एक बार फिर तान ।
सुन्दर, सुखद, सरस, सुमधुर देश भक्ति की तान ।
निर्जीवी जीवित हो जिससे, निर्बल हो बलवान ।
ऊँच नीच का भेद मिटाकर, होवे सकल समान ।
ग्रन्थित होकर एक सूत्र में, समझे निज कल्याण ।
यही चाह हो, यही ध्येय हो, मातृभूमि सम्मान ।
देश वेदि पर कर दो मिलकर, तन मन अर्पण प्राण ।
कष्ट क्लेश का भारत के हो जाने पर अवसान ।
तभी होगा भारत उत्थान ।

मात्र भूमि वन्दना एवं बलिदान होने की तीव्र अभिलाषा राष्ट्रीय कविताधारा का एक मूल अभिप्राय है ।

श्रीमती राजेश्वरी देवी "नलिनी" की रचनाओं में ये दोनों गुण प्रचुर मात्रा और सुन्दर शिल्प में प्राप्त होते हैं -

जय शस्य श्यामले जन्मभूमि । जय वीर प्रसविनी मातृभूमि ।
हिम शैल सुभग तेरा किरीट, मृदु मंजु बसन दूर्वा हरीत ।
सुरसरि की पावन धवल ऊर्मि, लेती है तव श्री चरण चूम ।

परम्परा साक्षी है कि वलिदान के प्रसंग में वीर पुत्रों को ही याद किया जाता है पहली बार कविता के इतिहास में यह कामना अंकित हुई है -

जननी-जन्म भूमि के हित में हो जाऊँ सहर्ष बलिदान ।
बनकर वीर-वालिका मैं भी कर दूँ भारत का उत्थान ।
वीणा की प्रतिध्वनि में मिलकर गाऊँ माँ का गौरवगान ।
रहूँ मात-सेवा में तन्मय, चाहे संकट पड़े महान् ।

यह सच है कि भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग तक फैले इस राष्ट्रीय चेतना के काल में जिन कवयित्रियों ने लिखा है- बहुत ही विषम परिस्थितियों में लिखा है । बहुत कम ऐसी लेखिकाएं हैं जिन्हें औपचारिक शिक्षा का लाभ मिला है । पारिवारिक विसंगतियाँ जव आजादी के पचास वर्षों वाद भी इतनी हैं तो उस समय की स्थिति की केवल कल्पना ही की जा सकती है । सीमित साधनों और परिवेश से घिरी नारी चेतना की जागृति के लिए छटपटाहट एवं तीखी संकल्प शक्ति साहित्येतिहास लेखक से पूरे ध्यान की माँग करती है । "भारत माँ" का स्वागत कुछ इसी प्रकार की अनुभूतियों से करती हैं विष्णु कुमारी श्रीवास्तव "मंजु"

आह । आज कितनी सदियों पर, आई हो माँ । इस कुटीर में ।
बोलो तुम्हें अर्घ्य दूँ कैसा ? उड़े विभव कण-कण समीर में ।
क्यों माँ । कैसे भूल सकी थी, विजित आर्य सन्तानों को ।
अरी निष्ठुरे । निर्मम होकर मसल दिया अरमानों को ।
भूत भव्यता आर्यभूमि की, अरी शक्तिदा भूल गई क्यो ?
समर रंगिणी । नष्टतेज क्यों ? विश्ववीरता सुप्त हुई क्यों ?

लीलावती झँवर "सत्य" ने सम्भवतः अपवाद स्वरूप ही विधिवत एम ए तक शिक्षा प्राप्त की थी और अध्यापन क्षेत्र से भी जुड़ी रहीं थी । यद्यपि उनकी कविताएं प्रकृति संलग्नता की रचनाएं हैं तथापि उनकी उद्धृत पंक्तियाँ माखन लाल चतुर्वेदी की कालजयी कविता "पुष्प की अभिलाषा" की याद दिलाती हैं ।

विपुल विघ्न-बाधाएं आएं फूल-सदृश स्वागत होगा ।
समय पड़े पर फॉसी का भी, हंस-हंस आलिंगन होगा
माता के प्रिय पद-पद्मों पर जीवन का यह सुरभित फूल ।
आज समर्पण करने को आयी हूँ अपनी सुध-बुध भूल ।

कुछ ऐसी कवयित्रियों के नाम भी हैं, जिन्होंने शायद ही काव्य-सग्रह छपवाया हो । तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं छपती रहती थीं । उनका अपना युग उन रचनाओं में साफ-साफ उभर कर आया है । नारी चेतना की जागृति कभी वर्तमान की विगलित स्थिति पर दुःख प्रकट करती है और कभी अतीत का गौरव गान । राम प्यारी श्रीवास्तव का कथन है -

हा हन्त नारियों ने निज
धर्म को भुलाया
पाई न पूर्ण शिक्षा,
अभिमान उर में छाया

साथ ही लालीवती देवी पुरुष प्रधान समाज को चेतावनी देती हैं-

सीखो मान करना समान
अधिकार साथ,
आदर उचित देना सीखो
सीख गुन की ।
देता जन्म जग में जो मनुज
समाज को यों
करता है सृष्टि वही अबला-
सुमन की ।
कान देता सनने को

देखने को आँख देता
आनन समान देता बुद्धि
मुनि गन की ।
सरल सनेह होता,
विमल विवेक होता
समता का ध्येय,
ममता की मातृ मन की ।

चंचल कुमारी देवी की एक कविता उस समय छपी जो आज के युग से भी मुखातिब है । कवयित्री नए युग की नारी के समक्ष प्रश्न रखती है कि वह क्या बनना चाहेगी -

बता-बता जीवन का तूने क्या उद्‌देश्य बनाया है ?
जग में क्या कर दिखलाने का मुझमें भाव समाया है ?

कवयित्री का उत्तर झकझोर देने वाला है -

अंकित है उर में सखि । सब सीता सावित्री गांधारी ।
इस युग में पर नहीं बनूँगी, मैं बीते युग की नारी ।
अब तो इच्छा है निकलूँ घर से लेकर नंगी तलवार ।
देख जिसे उस दबे देश में, हो कुछ साहस का संचार ।

अपनी ''जागृति'' शीर्षक कविता में तोरण देवी शुक्ल ''लली'' भी इस ''दोहरी गुलामी'' से मुक्ति की कामना करती हैं -

कहो बंधु ! अब क्या कहते हो,
कब तक मुक्त करोगे ?
इस घूँघट की कड़ियों से ।
हम दुर्बल दीन मलीन हुईं, सुख
शान्ति स्वास्थ्य बलहीन हुईं
हा ! परदे ही परदे में -
मिलती अन्तिम घड़ियों से ।

राष्ट्रीय काव्य-धारा में यदि किसी कवयित्री का थोड़ा बहुत नोटिस लिया गया है तो वे हैं सुभद्रा कुमारी चौहान । डॉ० देवराज शर्मा लिखते हैं ''परतंत्रता के युग में सुभद्रा जी का समूचा परिवार अंग्रेजी शासन का घोर शत्रु था । वह अंग्रेज अदालतों में वकालत करना भी अपने परिवार के लिए राष्ट्रद्रोह मानती थीं। यही कारण है कि उन्होंने अपने पति ठाकुर लक्ष्मण सिंह से वकालत छुड़वाकर श्री माखन लाल चतुर्वेदी के साप्ताहिक पत्र ''कर्मवीर'' में सहायक सम्पादक पद का कार्य कराने मे प्राप्त की सुभद्रा जी काँग्रेसी देशभक्तों के साथ

राजनैतिक आन्दोलनों में सक्रिय रहकर आगे बढ़ने लगीं । वस्तुतः इनकी साहित्यिक सेवा के मूल में अटूट राष्ट्रप्रेम की भावना सदैव क्रियाशील रही है । ये राष्ट्रीय आन्दोलन की शिथिलता के समय साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख होती थीं । निःसन्देह श्रीमती चौहान मन में देशभक्ति का जाग्रत ज्वालामुखी लिए वाणी के माध्यम से शत्रु पर जय पाने हेतु अविरल अंगार-वर्षा करती रही हैं । यों तो श्रीमती चौहान का स्वरूप, वीर-काव्य के प्रणेता उन वीरों का रहा है, जिनके एक हाथ में कलम और एक हाथ में तलवार रहती थी । उद्बोधन का स्वर जागरण का सन्देश देता था तो कर्म की हुंकार स्वतंत्रता की देवी के चरणों में अपना सर्वस्व होम करने के लिए तत्पर रहती थी ।''

सुभद्रा जी का पूरा रचना कर्म राष्ट्रीयता का पर्याय है, और इसकी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इस राष्ट्रीयता के समानान्तर नारी चेतना की रेखा है। साहित्येतिहास में दबे स्वर से यदि राष्ट्रीय काव्य-धारा में उनकी उपस्थिति मान भी ली जाती है, तो नारी चेतना को नितान्त नजरअन्दाज कर दिया जाता है । राष्ट्रीय काव्य-धारा में वीरों का प्रशस्ति-गान प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, परन्तु जहाँ नारियों के गौरव-गान का समय आया है, वहाँ प्रायः सीता, सावित्री, गाँधारी और द्रोपदी आदि का ही स्मरण किया गया है । यह संयोग मात्र नहीं है, और न ही इसे सयोग माना जाना चाहिए कि झाँसी की रानी की अमरकथा को ओजस्वी वाणी देने वाली एक कवयित्री ही है । ''झाँसी की रानी'' कविता ने अनेक हृदयों में जीवन के चरण पाथेय का आभास कराया - - - सिर पर कफ़न बाँधकर चलने वाली टोलियों ने राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक को कंठस्थ कर स्वाधीनता-संग्राम में कमर कसकर कूदकर अपना परम पाथेय प्राप्त करने का संकल्प लिया था ।''

विजयदशमी का पर्व भारतीय वीरता का उत्सव है, कवयित्री ने इस पर्व को परतंत्रता की मुक्ति के साथ जोड़ दिया है जिस कार्य को निराला ने ''राम की शक्तिपूजा'' में अद्भुत काव्यालोक में चित्रित किया है, वही कार्य सुभद्रा कुमारी चौहान ने निहायत सादगी से कर दिया है । लेकिन एक खास बात जो निराली की ''राम की शक्ति पूजा'' में नहीं वह यहाँ है और शायद यहाँ ही हो सकती थी । वह नयी दृष्टि है चुनौती है पन्द्रह कोटि असहयोगिनियों का आव्हान-

सबल पुरुष यदि भीरु बने तो
हमको दे वरदान सखी ।
पन्द्रह कोटि असहयोगिनियाँ
दहला दे ब्रह्माण्ड सखी ।
खाना पीना सोना जीना हो पापी
का भार सखी ।
मर-मर कर कर दें पापों का
हम जगती से छार सखी ।

"मेरा नया बचपन" कविता अपने पूरे सौन्दर्य-वोध के साथ हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती कि "बचपन बेटी बन आया" सुभद्रा जी पुत्र की माता भी थीं, परन्तु पुत्री में अस्मिता की खोज केवल संयोग नही हो सकता । पुत्रष्टियज्ञ" की परम्पराओं में और बाल-वर्णन सम्राट सूर की रचनाओं मे भी "बालिका" का ऐसा चित्रण नहीं मिलता यह बात दूसरी है कि यह ऐतिहासिक घटना अभी तक इतिहास से बाहर है -

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख सुहाग की है लाली
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली ।

बालिका के रोदन पर आपत्ति करने वाले को कवयित्री का उत्तर है -

तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है
मैं कहती हूँ इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है ।
+ + +
ये नन्हें से ओंठ और यह लम्बी सी सिसकी देखो ।
यह छोटा सा गला और यह गहरी सी हिचकी देखो ।
तुमको सुनकर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान ।
जैसे भक्तों की पुकार सुन, गर्वित होते हैं भगवान् ।

नारी अस्मिता की पहचान और राष्ट्रीयता का उद्घोष सुभद्रा कुमारी चौहान की रचनाओं में गहरी बुनावट से जुड़ा है । पति के द्वारा प्रेम-काव्य की फरमाइश किस प्रकार जलियांवाला बाग की त्रासदी से जुड़ जाती है यह कवयित्री का अपना विशिष्ट रचनातंत्र है । "मेरी कविता" इस दृष्टि से पूरी ही पढ़ी जानी चाहिए । कुछ पंक्तियाँ मात्र उद्धृत हैं -

मुझे कहा कविता लिखने को, लिखने बैठी मैं तत्काल ।
पहले लिखा "जलियाँ वाला" कहा कि "बस हो गए निहाल"
"तुम्हें और कुछ नहीं सूझता, ले देकर वह खूनी बाग ।
रोने से अब क्या होता है, धुल न सकेगा उसका दाग ।
+ + + +
कहा "न मैं कुछ लिखने दूँगा, मुझे चाहिए प्रेम कथा ।"
मैंने कहा "नवेली है वह रम्यवदन है, चंद्र यथा ।"
अहा ! मग्न हो उछल पड़े वे, मैंने कहा सुनो चुपचाप
बड़ी-बड़ी सी भोली आँखें, केश पाश ज्यों काले साँप ।
+ + + +
उसी बाग की ओर शाम को जाती हुई दिखाती है ।
प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ही फिर आती है ।
उसे लौटती समय देखना, रम्य-वदन पीला-पीला ।
साड़ी का वह लाल छोर भी रहता है बिल्कुल गीला ।

माता और पत्नी के साथ ही बहिन के कर्त्तव्य पालन का भी उनका अपना राष्ट्रीय अन्दाज है । रक्षाबन्धन कवयित्री के लिए एक राष्ट्रीय आव्हान का पर्व है -

देखो भैया भेज रही हूँ, तुमको-तुमको राखी आज ।
साखी राजस्थान बनाकर, रखलेना राखी की लाज ।

+ + +

बोलो सोच समझ कर बोलो, क्या राखी बँधवाओगे ?
भीर पड़ेगी, क्या तुम रक्षा करने दौड़े आओगे ?

कवयित्री ने स्वयं अपने को पुरस्कार दिये जाने के समय एक पंक्ति मे अपनी सम्पूर्ण रचनाधर्मिता को समेट दिया है -

"देश प्रेम की मतवाली को जननी पुरस्कार कैसा ?"

यही उनकी और उनकी कविता की पहचान है ।

द्विवेदी युग के बाद, छायावादी कविता का एक राष्ट्रीय संस्कार भी रहा है, यह बात आज स्वीकार कर ली गई है । प्रसाद, पंत और निराला के साहित्य मे राष्ट्रीयता के संदर्भ रहे हैं ।

प्रसाद की "हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतत्रता पुकारती" या "अरुण" "यह मधुमय देश हमारा" प्रसिद्ध रचनाएँ है, जो नाटक के तंत्र में बँधी होने के बाद भी सर्वकालिक हैं । निराला की "भारति ! जय विजय करे, कनक-शस्य कमल धरे" की मातृवन्दना हो या "जागो फिर एक बार" का उद्घोष, वे शब्द के शान्ति-गान हैं । पन्त ने तो स्वतंत्रता के बाद भी राष्ट्रीय काव्य की प्रचुर रचना की है । यहाँ भी, महादेवी के काव्य को लेकर एक विचित्र उदासीनता दिखाई पड़ती है । छायावादी के एक सीढ़ी ऊपर, यानी रहस्यवाद ! महादेवी रहस्यवादी कवयित्री हैं, अर्थात् वे उस जगत की नहीं है । उनकी पीड़ा भी आध्यात्मिक है, इस मिट्टी की नहीं है । जब उनकी गद्य-रचनाओं को रेखांकित किया गया, तो सिद्धांत निकाला गया, उनका काव्य रहस्यवादी है, गद्य यथार्थवादी । यदि बात सिर्फ दार्शनिकता की है, तो प्रसाद, पंत और निराला-सभी दार्शनिक मूल के कवि हैं, परन्तु उनका महाभिनिष्क्रमण नहीं होता । शमशेर और मुक्तिबोध को लेकर भी यह चर्चा प्रायः ही होती है कि उनकी रचनाओं का कथ्य यथार्थवादी है और शिल्प रूपवादी । परन्तु महादेवी के संबंध में इस प्रकार का कोई द्वन्द्व नहीं है, वे तो सीधे-सीधे रहस्यवादी हैं । रहस्यवाद का जिक्र करते हुए भी हम अकसर यह भूल जाते हैं कि, कबीर भी हिन्दी साहित्य के घोषित रहस्यवादी हैं, लेकिन उनके जैसा निचाट यथार्थ बोध कितनों का है ? सच तो यह है कि, साहित्येतिहास में अभी महादेवी को खोजा ही नहीं गया है ।

"अग्निरेखा" महादेवी की मृत्यु के बाद प्रकाशित उनका अन्तिम कविता सग्रह है जो सर्वथा एक नए काव्य-लोक को उद्घाटित करता है यह महज एक सयोग नही है कि दीपक जो महादेवी का का लगभग प्रतीक

चिन्ह'' माना जाता है - अग्निरेखा में बदल गया है । परिवर्तन की यह प्रक्रिया इस गीत में स्पष्ट रूप से अंकित है -

लौ की कीमत दीप्त अनी से तप की एक अरुप शिला पर,
तूने दिन के रूप गढ़े शत ज्वाला की रेखा अंकित कर
अपनी कृति में आज अमरता पाने की बेला आती रे ।
दीपक अब रजनी जाती रे । धरती ने हर कण सौंपा
उच्छवास शून्य विस्तार गगन ने न्यास रहे आकार धरोहर
स्पन्दन की सौंपी जीवन ने अंगारों के तीर्थ ! स्वर्णकर
लौटा दे सबकी थाती रे । दीपक अब रजनी जाती रे ।

ऐसा लगता है कि महादेवी के चित्रों में बहुतायत से प्रयुक्त प्रतीकों दीप, धूप, अर्चना, पुष्प आदि के आधार पर ही उन्हें रहस्यवादी कवयित्री घोषित कर दिया गया है और इस प्रकार की कविताएँ एकदम अनदेखी कर दी गई हैं -

पूछो न प्रात की बात आज आँधी की राह चलो
ताप बिना खण्डों का मिल पाना अनहोना
बिना अग्नि के जुड़ा न लोहा माटी-सोना ।
ले टूटे संकल्प स्वप्न दर ज्वाला में पिघलो ।

महादेवी की कविताओं में यह चाँदी का तार प्रारम्भ से मिलता है । उनकी प्रारम्भिक कविताएँ जो ''प्रथम अयाम'' शीर्षक से प्रकाशित हुई महत्वपूर्ण हैं । यहाँ उनका प्रिय ''आत्म-प्रतीक'' दीप मौजूद है लेकिन नितान्त नयी भंगिमा में -

तिमिर पारावार अब जग को डुबाने चला
जूझना भी मेरा जलना भी काम मेरा है ।

इसी संग्रह में उनके अत्यंत सुन्दर एवं ओजस्वी ''देशगीत'' हैं, जिनके विषय में सम्पादक की टिप्पणी है कि वे स्वतंत्रता आन्दोलन के समय ''प्रभात फेरियों'' में गाए जाते थे -

वन्दिनी जननी ! तुझे
हम मुक्त कर देंगे ।
श्रंखलाएँ ताप से उर के गलेंगी
भित्तियाँ यह लौह की रज में
मिलेंगी
रक्त से अपने खिला कर
लाल बादल
तिमिर को अब हम उषा आरक्त
कर देंगे

तुझे हम मुक्त कर देंगे ।
हर हृदय में आज सिंहासन
सजेगा
प्राण शतदल मुक्त पद्मासन
बनेगा,
स्वेद कण को पोछते ही
श्वास का संचार होगा
अश्रु-अमृत से तुझे
अभिषिक्त कर देंगे
तुझे हम मुक्त कर देंगे ।

एक दूसरे "देशगीत" में कवयित्री मस्तक देकर ज्वाला खरीदने का सकल्प करती है -

जब ज्वाला से प्राण तपेंगे तभी मुक्ति के स्वप्न ढलेंगे
उसको छूकर मृत साँसें भी होंगी चिनगारी की माला ।
मस्तक देकर आज खरीदेंगे हम ज्वाला ।

स्वतंत्रता-संग्राम के आस-पास रची कविताओं में "भारत-माता" की बहुरंगी छवियाँ मिलती हैं, हिन्दी में ही नहीं, लगभग सभी भाषाओं में । महादेवी द्वारा चित्रित छवि है -

अनुरागमयी वरदानमयी भारत जननी भारत माता
मस्तक पर शोभित शतदल सा यह हिमगिर है शोभा पाता
नीलम मोती की माला सा गंगा यमुना जल लहराता,
वात्सल्यमयी तू स्नेहमयी भारत जननी भारत माता ।

"प्रथम आयाम" में ही महादेवी जी के दो "ध्वज गीत" भी संकलित है, जिनकी रहस्यवादी व्याख्या शायद ही की जा सके -

विजयिनी तेरी पताका ।
तू नहीं है वस्त्र तू तो
मातृ भू का हृदय ही है
और
फहराता है आज तिरंगा ।
इसमें है पहचान हमारी
इसमें ज्ञान हमारा
इसके वंदन में झुककर हो उन्नत भाल हमारा

मन का उज्ज्वल हंस
बनाती यह छाया सतरंगा !
फहराता है आज तिरंगा !

राष्ट्रीय चेतना कोई अलंकरण नहीं है, जिसे काव्य में बुना जा सके, वरन् कर्मक्षेत्र से जुड़ी एक अभिन्न प्रक्रिया है । महादेवी का कार्यक्षेत्र कर्म का जनतंत्र है जिसमें अबोध अशिक्षित बालक हैं, विधवाएँ हैं और पीड़ा की अकथगाथा । "चाँद" के "फाँसी अंक" का सम्पादन भी इसी प्रक्रिया की देन है और देश में आपातकालीन स्थिति के विरोध में उनका यह कथन भी "हम सब की जबान में ताले लगे हुए है और सारा देश कारागार बन गया है ।" यदि यह सब कुछ रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है तो राष्ट्रीयता को पुनः परिभाषित करना होगा ।

विशेषज्ञ मानते हैं कि राष्ट्रीयता के लिए जरूरी होता है एक सामान्य भूखंड, एक साझा अतीत एक सम्प्रेषण मुक्त भाषा, एक सहयोगी संस्कृति । आज, हमारे पास एक प्रभुसत्ता संयुक्त, स्वतंत्र विशाल भूखण्ड है, साझा इतिहास है, समृद्ध भाषाएँ, जो विश्व की किसी भी भाषा से कमतर नहीं हैं, और है विविधता मे एकता के रंग रचती जीवन्त संस्कृति । फिर क्या चीज् है जो पूरे परिदृश्य से गायब है । न अब लोगों में सरफरोशी की तमन्ना है "मस्तक देकर ज्वाला" खरीदने का साहस पुष्प की अभिलाषा भी अब "वीरों के पथ" पर बिछने की नहीं है, उनके लिए अधिक महत्त्व के कार्य आवंटित कर दिए गए हैं । शतकों वर्ष चले राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीय चेतना के जागरण के बाद स्वतंत्र भारत के लिए पचास वर्ष काफी हुए इस दृश्य-परिवर्तन के लिए ? एक मासूम सी कामना थी उस युग की "शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले, वतन पर मिटने वालों का यही बाकी निशां होगा" अब मेले लगते तो जरूर हैं, पर शहीदों की चिताओं पर नही। उस उद्दाम चेतना के लिए क्या एक और गुलामी की प्रतीक्षा करनी होगी ?

◆ ◆ ◆

आधा इतिहास : संदर्भ महिला लेखन

इतिहास को छूना जोखिम का काम है परन्तु एक बार जब हम उसे छू लेते हैं, तो वह कंधों पर सवार हो जाता है और भविष्य की ओर यात्रायें करता है । साहित्येतिहास के संदर्भ में खतरा और भी बढ़ जाता है । वह एक ऐसी सतरणशील वस्तु का इतिहास है, जो वर्तमान में जीवित रहती है और कुछ सीमित अर्थों में ही सही, भविष्य में विकसित होती रहती है । अतः साहित्येतिहास भी सतत् विकासमान जीवंत प्रक्रिया है । आधुनिक भारतीय रिनांसा में, अन्य कलाओं के साथ, साहित्येतिहास रचना के प्रयास भी हुए, जिनमें शोध और आलोचना के साथ दृष्टि की भी अहम् भूमिका थी । पिछले दो दशकों में इतिहास की यह दृष्टि विचलित हुई और इसीलिए साहित्येतिहास के निरन्तर पुर्नमूल्यांकन और पुर्नलेखन की प्रक्रिया भी बाधित हुई ।

इक्कीसवीं सदी के द्वार तक आते-आते, महिला लेखन की बात करना, न तो चौकाने का कारण है और न उपेक्षा का । मूल रूप में रचना, रचना होती है, उसे स्त्री या पुरुष रचनाकार के रूप में बाँट कर नहीं देखा जा सकता - इस तथ्य से किसी को क्या गुरेज हो सकता है, परन्तु, यह एक काम चलाऊ तर्क या शिथिलता का कारण जरूर हो सकता है, जिसके चलते आज तक महिला लेखन का सही आकलन नहीं हो सका, मूल्यांकन के लिए तो यही कहना होगा कि काल अनन्त है और पृथ्वी निर्बाध ।

साहित्येतिहास की पीठिका युग विभाजन धाराओं के नामकरण एव पूर्वापर संबंध-निर्धारण पर अवधारित है । हिन्दी साहित्येतिहास का संदर्भ लें, तो हमने उसका विभाजन एवं नामकरण जातियों के आधार पर किया, जैसे, चारणकाल, ईश्वर के स्वरूप के आधार पर किया जैसे निर्गुण, सगुण काव्य धारा उसके विभिन्न नामों पर किया राम काव्य, कृष्ण काव्य, विभिन्न सम्प्रदायों के आधार पर किया, वल्लभ सम्प्रदाय, सखी सम्प्रदाय, सूफी सम्प्रदाय आदि - आदि, व्यक्तियो के नाम पर किया, भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग, और अब नामवर युग । अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म और काल्पनिक वादों के नाम पर किया, छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी । बात यहाँ तक पहुँची कि, एक, चार, या सात कवि आलोचक मिलकर अपना सम्प्रदाय भी चला सकते हैं जैसे ''नकेन के प्रपद्य'' या ''तार सप्तक'' । काल को प्रत्यय मानकर किया गया, नयी कविता, नयी कहानी, समकालीन कविता आदि और बकौल डॉ० जगदीश गुप्त के 'किसिम-किसिम की कविता' । इस तरह अनन्त नाम है हिन्दी परन्तु नही किया तो महिला

लेखन को भी साहित्य के अध्ययन की इकाई मान कर । यदि यह सवाल उठाया जाता है, तो, हर कोने से, हर तरह का विरोध उठ खड़ा होता है ।

महिला लेखन की एक अविच्छिन्न धारा रही है, आवश्यकता है खोजकर एक आकार देने की । ऋग्वेद में रोमशा (प्रथम मण्डप १२६) लोपामुद्रा, (१.१७९) श्रद्धा कामायनी, (१०.१५) यमी वैवस्वती (१०.१५) पोलौमी शची, (१०.१५९) विश्ववारा, (५.२८) अपाला, (८.९१) घोषा वाक्, (१०.१२५) सूर्या, (१०.८५) शाश्वती, (१.१) ममता (१.१०) एवं उशिज आदि ऋषियाँ के नाम मंत्र दृष्टा के रूप में प्राप्त होते हैं । नारी शक्ति की दृष्टि से शक्ति-सूक्त, आत्मविश्वास की पराकाष्ठा है, 'जो अन्न खाता है, वह मेरी ही शक्ति से खाता है, जो देखता है वह मेरी ही शक्ति से, जो साँस लेता है, कही हुई बात सुनता है, वह मेरी ही सहायता से, जो मुझे इस रूप में नहीं जानते, वे न जानने के कारण ही हीन दशा को प्राप्त होते हैं।''

वैदिक काल के पश्चात् रचना के सूत्र ''थेरी गाथाओं'' में उपलब्ध होते हैं । बौद्ध धर्मग्रन्थ सुत्रपिटक के अन्तर्गत पाँच निकाय हैं, खुद्दक निकाय इसी मे समाविष्ट है । इसके नवें भाग में थेरी गाथाओं का संकलन है । सामान्यतः इनका काल ईसापूर्व पाँचवी शताब्दी माना जाता है । महिला लेखन का ऐसा संग्रह दुर्लभ है । इसमें ७३ बौद्ध भिक्षुणियों की गाथाएँ संकलित हैं । सभी रचनाएँ पालि भाषा में हैं । प्राकृत भाषा में महिला लेखन के संकेत स्फुट रूप में ही मिलते हैं । यह तो संभव प्रतीत नहीं होता कि जिस प्राकृत भाषा को स्त्रियों की भाषा कहा जाता है, और जिनका संस्कृत बोलना निषिद्ध है, उसमें स्त्रियों ने लिखा न हो । ''बज्जलग्ग'' में उल्लेख है ''श्रृंगार युक्त ललित मधुर अक्षरों से युक्त युवतियों को प्रिय प्राकृत काव्य के रहते हुए भला संस्कृत को कौन पढ़ेगा -

ललिए महुरक्खरए, जुवईयण वल्लहे ससिंगारे
सन्ते पाइय कव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउँ ।

ईसा की प्रथम शताब्दी तक प्राकृत में सुन्दर काव्य की रचना होने लगी थी । प्रसिद्ध गाथा सप्तशती के संग्रह कर्ता हाल अथवा आन्ध्र के सातवाहन को माना जाता है । भोज ने सरस्वती कंठाभरण में और बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में सातवाहन को प्राकृत सुभाषित रत्नों का संकलन कर्त्ता कहा है । गाथासप्तशती में उल्लखित अनेक कवियों में कम-से-कम तीन कवयित्रियाँ हैं, रेवा, ससिप्पहा और रोहा । संभव है इस प्रकार की उक्तियाँ किसी कवयित्री की ही हों - -

''हे वाम नेत्र ! तेरे फड़कने पर, मेरा प्रिय यदि आज आ जाएगा, तो अपना दाहिना नेत्र मूँद कर, मैं तेरे द्वारा ही उसे देखूँगी - -

फुलए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम्
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम्

भक्ति आन्दोलन के देशव्यापी प्रसार के साथ, महिला लेखन के सूत्र बिखरे मिलते हैं । पुरानी हिन्दी में चौरासी सिद्धों में उल्लिखित कुक्करीपा को नारीसिद्ध माना गया है डॉ० सेन का अनुमान है कि इनकी दो चर्यापदो मे नारी की उक्ति

जैसी कथन शैली होने से किसी नारी की रचना प्रतीत होती है । (१) चर्यागीत पदावली पृ. ७.८) मणिभद्रा इनकी शिष्या थी (पुरातन निबंधावलि पृ. १५२) ।

भक्ति आन्दोलन का मूल उत्स दक्षिण भारत में माना जाता है । नायनमारो मे जो मूलतः शिव भक्तथे तीन नारी रचनाकार हैं, पुनीतवती, श्री भेड़यर्भराशि एव तिलकावती । विष्णुभक्तों में अंडाल की कीर्ति मीरा की ही तरह है । मराठी सतो मे मुक्ताबाई जनाबाई गोदा एवं महदम्बा उल्लेखनीय हैं । कश्मीर की लल्लद्येद मैथिली की चन्द्रकला को भी भुलाया नहीं जाना चाहिए । लगभग इसी काल मे लौकिक संस्कृत में अनेक कवयित्रियों की स्फुट रचनाएँ उपलब्ध होती हैं । कुछ नाम हैं - विकट नितम्बा, शीलाभट्टारिका, सुभद्रा, प्रभुदेवी, विज्ञा, मरूला पद्मावती, गौरी, अवन्ति सुन्दरी, फाल्गुहस्तिनी, मोरिका आदि । मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियो के नाम अपरिचित नहीं हैं । इस प्रकार परम्परा है, उसे पुर्नप्राप्त करना शेष है ।

साहित्येतिहास में महिला लेखन को सबसे पहले राजशेखर ने दर्ज किया था । कहते हैं, उनकी पत्नी अवन्ति सुन्दरी विदुषी, कवयित्री एवं आलोचक थी । राजशेखर का कथन है "पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं । ज्ञान का संस्कार आत्मा से संबंध रखता है, उसमें स्त्री या पुरुष का भेद नहीं है । सुनते और देखते हैं कि अनेक राजकुमारियाँ, मंत्रियों की पुत्रियाँ, वेश्यायें एवं नाट्यप्रयोक्ताओं की स्त्रियाँ शास्त्रों की प्रकाण्ड विदुषियाँ और कवयित्रियाँ है । (काव्यमीमांसा, अध्याय -१०)

थेरी गाथाओं में संकलित थेरियाँ समाज की विभिन्न सारणियों से आई थी । इनमें सुमनार जयन्ती शैला, क्षेमा, गौतमी आदि राजकुमारियाँ थीं । "अनुपमा" उत्पल वर्णा आदि श्रेष्ठिकन्या तथा सिंह सेनापति की पुत्री थी । वेश्याओं के संवर्ग मे विमला अम्बपाली आदि आती हैं । निम्नवर्ग से आई थेरियों में चापा, बहेरिए की पुत्री थी सुमंगला माता छाता बनाने वाली की पत्नी थी और पूर्णिकादासी । विभिन्न वर्गों से आई इन थेरियों की चिन्ता एक ही थी -

"शास्ता का वचन है स्त्री होना दुःख है ।"

इस चिन्ता से मुक्ति का प्रयास ही है ये गाथाएँ -

"जब भली प्रकार स्थित है चित्त / समाधि में / विद्यमान है नित्य ज्ञान /
अन्तर्ज्ञान से सम्यक दर्शन हुआ धर्म का / तो क्या करेगा स्त्रीत्व हमारा ।"

यहाँ एक वाजिब अवश्य उठाया जाना चाहिए कि जब ईसापूर्व पाँचवी शती में निम्नवर्गों से आई थेरियाँ काव्य रचना कर रही थीं, तो राजशेखर का ध्यान इस ओर क्यों नहीं गया ? एक संभावित कारण तो यही प्रतीत होता है कि राजशेखर का उल्लेख संस्कृत भाषा के संदर्भ में है । दूसरा, और अधिक महत्वपूर्ण कारण यह रहा होगा कि राजमहिषियाँ, मंत्रि पुत्रियाँ शिक्षित नारियाँ थीं वेश्याओं और नाट्य प्रयोक्ताओं की स्त्रियों के लिए भी कलाओं का ज्ञान आवश्यक रहा होगा । सामान्य वर्ग की नारियों को संभवतः शिक्षा की सुविधा प्राप्त नहीं थी, अस्तु साहित्य सरक्षण के जो तीन आश्रय माने गए हैं उनमे थेरियाँ धर्माश्रय में आ गई

राजमहिषियाँ राज्याश्रय में । सामान्य नारियों के लिए केवल लोकाश्रम ही शेष था और उस तक जाना अभी जरूरी नहीं समझा गया ।

प्रश्न उठाया जा सकता है - कहा गया यह पूरा का पूरा महिला लेखन। वाचिक परम्परा में खोजें तो इसका उत्तर मिल जाएगा । यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं । स्वयं अपौरुषेय वेद "श्रुति" है, रामायण और महाभारत भी वचित परम्परा से संकलित किए गए हैं । इसी परम्परा में जीवित रहे हैं गोरखनाथ और कबीर और आल्हा । अन्तर केवल इतना है कि महिला लेखन को अपना संकलन कर्त्ता प्राप्त नहीं हुआ । उनका कोई व्यास नहीं था । जो कुछ सुरक्षित रह सका वह केवल "धर्म" आश्रय में । शेष सब सन्तरणशील रहा और वाचिक परम्परा के क्षीण हो जाने से लुप्त प्रायः होता जा रहा है । जो अवशिष्ट है उसे इस दृष्टि से किसी ने देखा ही नहीं । कुछ उदाहरण दिए जाने आवश्यक होंगे ।

एक अत्यंत प्रसिद्ध हिन्दी गीत है जो विवाह के अवसर पर, बेटी की विदा के समय गाया जाता है । इस गीत में बेटी अपने "लखिया" बाबुल से शिकायत करती है कि भाई को तो महले-दुमहल मिले और उसके हिस्से में आया परदेस-

काहे को ब्याही विदेस रे लखिया बाबुल मेरे
भैया को दीन्हें बाबुल महला दुमहला हमका दिये परदेस
रे लखिया बाबुल मेरे ।

लगभग यही गीत खुसरो के नाम से उनकी हिन्दी रचनाओं में संकलित है। प्रश्न यह नहीं है कि यह गीत खुसरो की रचना है अथवा नहीं, प्रश्न तो यह है कि गीत की रचना बारहवीं शताब्दी तक हो चुकी थी । ऐसे उदाहरण और भी हो सकते हैं । राजस्थानी भाषा में जैन मुनियों ने बहुमूल्य कार्य किया है । वहाँ कुछ लोक गीत पुरानी पोथियों में लिखे मिल जाते हैं, जिनके आधार पर उनका रचनाकार प्रमाणित किया जा सकता है । एक दूसरा रचनात्मक प्रयोग यह किया गया है कि अत्यंत प्रसिद्ध लोकगीतों की तर्ज है (जिसे वहाँ ढाल कहा जाता है) पर धार्मिक कथाएँ एवं गीत लिखे गए हैं । प्रारम्भ में लोकगीत की प्रथम पंक्ति का उल्लेख कर दिया जाता है । राजस्थानी भाषा में इन्हें देशी कहा जाता है । ऐसे लगभग २५०० ढालों की अनुक्रमणिका प्रसिद्ध शोधकर्त्ता देसाई ने अपने ग्रंथ जैन गुर्जर कवियों भा-३ खंड२. पृ. १८३३-२१०४ पर दी है । पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जिन गीतों की प्रथम पंक्तियों को संकलित किया गया है वे निश्चित रूप से सौ-दो सौ वर्ष पुरानी अवश्य होगी, अधिक भी हो सकती है । इस तरह का एक उपयोगी उदाहरण जैन कवि कुशल लाभ का है । उन्होंने अपनी "ढोला मारवणी री चउपई" में पुराने लोक प्रचलित दोहों को अपनी "चउपईबंध" में रख दिया है । स्वयं कुशल लाभ का कथन है "दूहा घणो पुराणा अछइ, चउपइ बंध किया मइ पछइ" कुशल लाभ का रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी माना जाता है, और इस प्रकार संकलित दोहे दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक के माने जा सकते हैं इस सबध मे लोकगीतो के आदि

शोधकर्त्ता श्री रामनरेश त्रिपाठी का कथन उपेक्षा की वस्तु नहीं है - "मनुष्यों की तरह गीतों का भी जीवन मरण साथ चलता रहता है । कितने ही गीत तो सदा के लिए मुक्त हो गए, कितने ही गीतों ने देश काल के अनुसार चोला ही बदल डाला पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा । बहुत से गीतों की आयु हजारों वर्ष की होगी । वे थोड़े फेर-फार के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं । इन गीतो की रचना के संबंध में उनकी टिप्पणी सर्वथा मान्य है - "जो गीत स्त्रियाँ स्वयं गाती है, उनकी रचयिता वे स्वयं हैं । गीतों की भाषा, उनके विषय और वर्णन शैली ही इस बात का प्रमाण है । जो गीत पुरुष गाते हैं, वे पुरुषों के रचे हुए हैं । हमने गीतो का गहरा अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकाला है, कि, स्त्रियों के गीतों में, पुरुषो का मिलाया हुआ एक शब्द भी नहीं है । स्त्री गीतों की सारी कीर्ति स्त्रियों ही के हिस्से की है । यह संभव हो सकता है कि एक-एक गीत की रचना में बीसों वर्ष और सैकड़ो मस्तिष्क लगे हों, पर मस्तिष्क थे स्त्रियों ही के, यह निर्विवाद है ।"

धारा के विपरीत खड़े रह सकने का साहस

साहित्येतिहास की पारम्परिक मान्यता यह रही है, कि एक काल खंड में, एक सामान्य रूप से पहचानी जाने वाली रचनाएँ आती हैं, जिनके आधार पर उस कालखंड का नामकरण किया जा सकता है । मैं कालखंड की इस अवधारणा को महिला लेखन की दृष्टि से परखने का प्रस्ताव करती हूँ । उदाहरण के लिए पालि साहित्य में थेर गाथाएँ और थेरी गाथाएँ दोनों ही मिलती हैं । दोनों का काल, सम्प्रदाय दर्शन, परिस्थिति और काव्यरूप एक ही है, परन्तु दोनों की मुक्ति आज भी पृथक छवि की है । थेर वनवृच्छ की एक गाथा है -

सुन्दर शीत स्वच्छ जलाशयों से युक्त
इन्द्र गोपों से आच्छादित
नील घटाओं के समान
जो पर्वत हैं
वे मुझे प्रिय हैं ।

थेर सप्पर की गाथा है -

जबकि स्वच्छ और उजले पंखों वाले बलाक
वर्षा में मेघ के भय से त्रस्त हों
आश्रय की खोज में भागते हैं
तब अजकर्णी नदी मुझ प्रिय लगती है । (३०७)
जब स्वच्छ शुद्ध उज्वल बलाक
काले मेघ के भय से त्रस्त हो
गुफा की खोज करते हैं
तब अजकर्णी नदी मझे प्रिय लगती है (३०८)

थेरियों की गाथाओं के चित्र काफी भिन्न स्वाद के हैं । उनके दुःख स्वप्न यहाँ भी उनका पीछे करते हैं । दो समानान्तर गाथाओं से यह स्थिति स्पष्ट होती है। श्रावस्ती का एक निर्धन कृषक थेर हो गया । उसकी गाथा है -

अच्छी तरह मुक्त हुआ, मैं अच्छी तरह मुक्त हुआ
जुताई बुबाई और कटाई से
मैं अच्छी तरह मुक्त हुआ ।
हँसुओं, हलों और कुदालों से
मैं अच्छी तरह मुक्त हुआ ।

मुक्ता कोसल जनपद की एक दरिद्र ब्राह्मण-कन्या थी । दरिद्रता के कारण ही उसका विवाह कुबड़े से हुआ था । गृहस्थी छोड़ उसने प्रवृज्या ग्रहण की । उसकी मुक्ति का रंग यह है -

मैं सुमुक्त हो गई । अच्छी विमुक्त हो गई ।
तीन टेढी चीजों से/ अच्छी विमुक्त हो गई ।
ओखली से/ मूसल से/ और अपने कुबड़े पति से
भली विमुक्त हो गई ।

सुमंगल माता का कोई नाम नहीं है । आज की तरह, उसकी पहचान उसके पुत्र सुमंगल के नाम से होती है । दरिद्रता के कारण उसका विवाह छाता बनाने वाले से हुआ था । उसकी मुक्ति का स्वाद यह है -

अहो मैं मुक्त नारी/ मेरी मुक्ति धन्य है/
पहले मैं मूसल ले धान कूटा करती थी
आज उससे मुक्त हुई ।
मेरी दरिद्र अवस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन
जिनके बीच मैं मैली कुचैली बैठा करती थी ।
और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उस छाते से भी तुच्छ समझता था,
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था ।

हिन्दी साहित्येतिहास में चारण काव्य अपनी उद्दाम वीरता के लिए प्रसिद्ध है । संभवतः इसीलिए कहीं-कहीं उसका नाम चारणकाल रख दिया गया है । रेखांकित करने वाला तथ्य यह है कि चारिणयों ने वीर काव्य प्रायः नहीं लिखे । अचल दास खींची री वचनिका राजस्थानी का ख्याति प्राप्त काव्य है । अचल दास की सातवीं पत्नी थी झींमा चरणी जिनके स्फुट दोहे मिलते हैं । कहा जाता है कि अचल दास को अपनी दूसरी पत्नी लीला अधिक प्रिय थी । उनकी तीसरी पत्नी उमादे को संबोधित कर झीमा ने कहा -

धिन उमादे सांखली ते पिय लियो भुलाय
सात बरसरो बाछइयो तो किम रैन विदाय ।।

पगाँ बजाऊ घूंघरू, हाथ बजाऊँ तूंब ।
उमा आचल मुलावियो, ज्यूं सांवन की लूंब ।।

इसी प्रकार राजस्थानी के प्रसिद्ध कवि पृथ्वी राज राठौड़ की पत्नी चम्पादे भी अच्छी कवयित्री थी । पति-पत्नी के मध्य काव्य-विनोद की कई कथाएँ प्रचलित है । एक बार पृथ्वीराज राठौड ने दर्पण देख अपना श्वेत केश उखाड़ कर फेंका । चम्पादे की मुसकान दर्पण में झलक गई । पृथ्वीराज ने कहा -

पीथल धोला अविया बहुली लागी खोड़ ।
कामण मत्त गयंद ज्यूं ऊभी मुक्ख मरोड़ ।।

उत्तर में चम्पादे ने कहा -

हल तो धूना धोरियाँ पंथज गग्धां पार ।
नरां, तुरां अरू बनफलों पक्का पक्का साँव ।।

विपरीत धारा में तैरने का साहस उपेक्षा की ही दृष्टि से देखा गया । उपेक्षा से अधिक मारक और कोई अस्त्र नहीं होता । हजारों वर्षों पहले किसी थेरी को देख प्राकृत भाषा में किसी मनचले का कथन है -

'क्षमाशील इस आर्य को हम प्रणाम करते है । उसके दाँतों की पक्ति अत्यन्त शुभ्र है और मार्ग पर जाती हुई वह तरुण जनों के मन को हरती है ।

वंदामु खंति । पडपंडुरसुद्धंति ।
रच्छाए जाति । तरुणाण मणं हरंति ।

कहना न होगा, कि आर्या का वृद्धा एवं दंतहीना थी । थेरी सीमा ने जो अपने लिए कहा है उसमें पूरे समाज का चेहरा झाँक रहा है - "जो स्थान ऋषियो के द्वारा भी प्राप्त करने में अत्यंत कठिन है, उसे दो अंगुल मात्र प्रज्ञा वाली स्त्री भी प्राप्त कर लेगी यह कभी भी संभव नहीं है ।" अर्थात् चावल पकाते समय पानी को दो उँगलियों के दो पोरों तक नापा जाता है, उतनी ही परिधि है स्त्री प्रज्ञा की ।

कोई काल-विभाजन नहीं होता महिला लेखन में अन्तहीन यंत्रणा है महिला लेखन

वैदिक ऋषियों को पढ़ते हुए समकालीनता का बोध होता है । ब्रह्मवादिनी अपाला अत्रि मुनि की वंशज थी और कुष्ट रोग से पीड़ित थी । उन्होंने इन्द्र की प्रार्थना की और निरोग हुई । यही कथा काक्षीवान ऋषि की पुत्री घोषा की है । कुष्ट होने के कारण वे अविवाहित ही रह गई । अश्विनी कुमारों की प्रार्थना करने पर रोग नष्ट हुआ, उसके पश्चात् विवाह भी हुआ । उनकी प्रार्थना है "हे अश्विनी कुमारों, मैं ज्ञान बुद्धिहीन नारी हूँ । आपका आशीर्वाद मुझे दुर्गति से बचाए । आपके आशीर्वाद से मेरे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि सुप्रतिष्ठित होकर जीवन यापन करें । पतिगृह मे मैं पति की प्रिय पात्री बनूँ ।" इसी क्रम में रोमशा का प्रसंग है । बृहस्पति पुत्री पति-उपेक्षिता थी क्योंकि उसका शरीर रोमों से भरा था इन अंशो के अतिरिक्त पुरुष से बौद्धिक स्पर्द्धा उसे बहुत महगी पड़ती थी गार्गी और

याज्ञवल्क्य का प्रसंग तो बहुचर्चित है । बराहमिहिर और उसकी पत्नी खना का प्रसंग अविस्मरणीय है । खना भास्कराचार्य की पुत्री थी एवं पाटी गणित में प्रवीण थी । राज्य सभा में बराहमिहिर से एक प्रश्न हल नहीं हुआ । रात में उन्होंने खना से चर्चा की । खना ने हल बता दिया । दूसरे दिन राज्य सभा में वराहमिहिर उत्तर तो बता सके परन्तु विधि नहीं । अन्ततः उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि यह हल उनकी पत्नी खना ने बताया था । राजा ने खना को सम्मानित करने के लिए बुलाया। वराह को यह सहन नहीं हुआ । उन्होंने अपने पुत्र को खना की जीभ काट लेने की आज्ञा दी । पुत्र को संकोच हुआ । खना ने स्वयं स्वीकृति दी । जीभ काट ली गई औरखना की मृत्यु हो गई । कहते हैं कि किसान आज भी खना की अन्वेषित पद्धति से वर्षा सूखा आदि की भविष्य वाणी करते हैं । ध्यान देने की एक बात और भी है । स्त्री को स्त्री होने का दण्ड उसके पुत्र के माध्यम से दिलवाया जाता है । परुशराम के संबंध में भी यही सत्य था और खना के संबंध में भी । उदाहरण और भी हो सकते हैं । क्या इसका अर्थ यह लगाया जाए कि मातृत्व के जिस प्रभा मण्डल के पीछे से नारी महिमा मंडित दिखाई देती है, उसका खंडन जरूरी हो गया था । थेरी गाथाओं में यातना-कथा स्मृतियों के रूप में चलती रहती है । कृषिदासी की कथाओं में संवाद के रूप में उसका आत्मकथ्य उजागर किया गया है "मेर पिता उज्जयिनी महानगरी के एक धर्मात्मा सदाचारी सेठ थे, मैं उनकी इकलौती, प्यारी, अनुकूल कन्या थी (४०५) अपने घर में पाई शिक्षा के अनुसार मैं प्रतिदिन प्रातः काल और सायंकाल सास-ससुर को प्रणाम करती, नतमस्तक होकर उनकी चरण वन्दना करती (४०७), पति की बहनों भाइयों और परिजनों को देखकर एक बार ही मैं उद्विग्नतापूर्वक उन्हें आसन देती (४०८) अन्न, पान, खाद्य, जो भी घर में प्रस्तुत होता उससे सबकी यथायोग्य सेवा करती, जिसको जैसा चाहिए उसको वैसा ही देती, सबको प्रसन्न रखती (४०६) । ठीक समय पर उठकर देहरी पर झाड़ू बुहारू लगाती, हाथ पैर धोकर अंजलि बाँध कर पति के पास जाती (४१०) । कंघी, प्रसाद, अंजन और दर्पण लेकर मैं दासी के समान स्वयं अपने हाथों पति का प्रसाधन करती । अपने हाथ से चावल पकाती, अपने हाथ से वर्तन धोती, जैसे माता अपने एक मात्र पुत्र की सेवा करती है, वैसे ही मैं अपने पति की सेवा करती (४१२) इस पर भी कृषि दासी पति द्वारा त्यागी गई । तीन वार उसका विवाह हुआ और वह तीनों बार त्याग दी गई । अन्त में उसने प्रवृज्या ग्रहण की ।

लल्लद्येद कश्मीर की संत कवयित्री हैं जो चौदहवीं शताब्दी में थी । विवाह उनके लिए अन्तहीन यातना की यात्रा बन गया । काफी समय तक सहन करने के बाद उन्होंने पति गृह त्याग दिया । कहते हैं जाड़े में पानी से भरा घड़ा उनके सिर पर रख कर तोड़ दिया गया तब वे मीलों पैदल चल कर अपने माँ के घर पहुँची। उन्होंने लिखा है "मेरे पैरों के तलवों का सारा माँस मार्ग के साथ चिमिट गया है। किसी एक ने मुझे उस एक का मार्ग दिखाया । जो उसका नाम सुने वह उन्मत्त क्यो न हो उठे । मुझे लल्ल ने उसकी प्राप्ति की अभिलाषा को ही अपने जीवन का उद्देश्य मानकर सौ बातो की एक बात स्वीकार की है

लतअन हुन्द माज लारियोम बतन
अकी हअवनम अकि ची वथ
मिम मिम वोजन तिम कोन अह मतन
ललि बूज शतन कुनि कथ ।

धुर दक्षिण की अंडाल और पश्चिम की मीरा की गाथाएँ समानता रखने पर भी विशिष्ट है । दौनों ने ही ईश्वर को पति रूप में वरण किया था, परन्तु मीरा आदि से अंत तक विद्रोहिणी थी । राणा ने चाहा कि वह महल के भीतर ही शान्त भाव से अर्चना करें, परन्तु मीरा को तो "संतन ढिंग बैठि बैठि लोकलाज खोई । अब तो बेलि फेलि गई कहा करिहै कोई" कहकर एक साथ समर्पण विद्रोह, उदासीनता, और दृढ़ता का परिचय देना था । "पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे" कह कर एक विवाहिता स्त्री की मर्दाया को खिजाया तो दूसरी ओर राज्य सत्ता को ललकार "राणा रूसै राज लेसी", तीसरी ओर धर्म की सत्ता में जो पुरुष की प्रधानता थी, उसे भी हिलाया । कहते हैं गृह त्याग मीरा वृन्दावन की यात्रा पर गई तो स्वामी हरिदास से मिलना चाहा । उन्होंने कहला दिया "हम स्त्रियों को दर्शन नही देते", मीरा ने कहा "अच्छा इस संसार में कोई दूसरा भी पुरुष है मैं तो एक ही को जानती थी । मीरा जैसा विद्रोही, व्यक्तित्व कबीर के अतिरिक्त दूसरा नही हुआ । इसीलिए उसके समय ने उसे विष का प्याला दिया और हमारे समय ने फुटकर खाता । इतिहासकार विद्रोहियों को पसन्द नहीं करते ।

नितान्त निजी अनुभूतियों का संसार

प्रायः महिला लेखन पर आरोप लगाया जाता है "ऐसा क्या है ? जिसे पुरुष नहीं लिख सकता ? यह सच है कि रचनाकार देहान्तरण करता है, परन्तु फिर भी, स्वयं भोगे हुए सत्य की अभिव्यक्ति नितान्त एकान्त, निजी है । मातृत्व एक ऐसा ही क्षण है, जिसे स्त्री को अकेले ही सहन करना होता है । नारी जीवन के इस एकाकी क्षण की अभिव्यक्ति थेरी कृशा गौतमी इस प्रकार करती है -

स्त्री होना दुःख है ऐसा मनुष्यों के चित्त को संयमी बनाने वाले उन सारथी स्वरूप (भगवान बुद्ध) ने कहा है ।

विद्वेषी सपत्नियों के साथ/ एक घर में रहना दुःख है/ बच्चों को तीव्र पीड़ा में जनना दुःख है ।

कोई-कोई जनने वाली माताएँ/ एक बार ही मृत्यु चाहती हुई/ अपना गला काट लेती हैं/ ताकि दुबारा यह दुःख न सहना पड़े/ कुछ सुकुमारियाँ/ विष खा लेती हैं/ बच्चा जन्म नहीं लेता, बीच में रुद्ध हो जाता है/ तब जच्चा-बच्चा दोनों ही विपत्ति में पड़ जाते हैं ।

इसके बिल्कुल दूसरे छोर पर बाँझ स्त्री की वेदना है । एक लोक गीत मे (जिसे शिशु जन्म पर गाया जाना अनिवार्य माना जाता है) एक बाँझ स्त्री को घर से निकाल दिया जाता है

सासु त कहे रे बँझनियाँ। ननद ब्रिजवासी। ए हो जिन संग वारे ते ब्याही
उइ घर ते निकारे बहुत दुख मानई हो ।

बाँझ स्त्री नागिन सिंहनी अपनी माँ के घर जाती है और मृत्यु की कामना करती है । स्वयं बाँझ हो जाने के भय से कोई भी उसकी प्रार्थना स्वीकार नही करता । अन्त में वह गंगा में डूबने के लिए जाती है और गंगा उसकी व्यथा देख पुत्रवती होने का वर दे देती है -

गहवरि पीइरी चढ़इबे, मैं गंगा को मनइबे हो
गंगा देउ भगीरथं पूत जगत जस गावइ हो ।

स्थिति यह बनती है -

सासु त कहइर बहुरिया ननद भैजइया हो ।
ए हो जिन संग वारे ते व्याही, उइ रनियाँ कहि के बोलइ हो ।

निजी जीवन के क्षण देखने हों तो जाँत के गीतों में देखिए । यह लोकगीतो का वह एकान्त कौना है जहाँ स्त्रियाँ एक पहर रात रहे उठकर, चक्की चलाती है और अपनी व्यथा-कथा कहती है । एक गीत में बहू का भाई मिलने आता है । बहू बड़े चाव से सास से पूँछती है कि वह क्या भोजन बनाए सास का उत्तर है -

कोठिलहि बहुवरि सरली को दइया रे ना ।
बहुवरि मेडवा मसउढ़े क सगवा रे ना ।

"कोदो" एक निकृष्ट प्रकार का चावल है और 'मसउढ़ा' एक प्रकार की घास।

बहन ने भाई से अपनी व्यथा कही -
कै मन कूटी भैया कै मन पीसों रे ना ।
भैया कै मन सिझवँउ रसोइया रे ना ।
सास खाँची भरि बसना मजारैं रे ना ।

इतना काम करने के बाद भी बहन की स्थिति है -

पीठ देखो भैया तो पीठ देखो, जैसे धोबिया कपाट रे ।
कपड़ा देखो भैया कपड़ा देखो, जैसे समनवां के बदरी रे ।

माँ से कहा नहीं जा सकता, पिता से कहा नहीं जा सकता अतः वह कहती है' हे भाई, मेरे दुःखों को अपनी गठरी में बाँद लो जहाँ उसे खोलना वहाँ रोना -

ई दुःख बाँधो भैया अपनी गठरिया, जहवाँ खोलउ तहवाँ रोयउ रे ।

\+ \+ \+ \+

साहित्य का आधा हिस्सा नारी-रूप वर्णन से भरा हुआ है । यहाँ विशिष्टता के लिए तीन संदर्भ लिए जा सकते हैं । आदि शंकराचार्य ने अपनी सौन्दर्य लहरी में भगवती के सौंदर्य का विपुल वर्णन किया है, वह दृष्टि भक्त की है । महाकवि निराला ने सरोज स्मृति में पुत्री सरोज का रूप वर्णन किया है जो अपने मे

अकेला है । परन्तु थेरी हो जाने के बाद वेश्या अम्बपाली ने जैसे अपने सौन्दर्य को नोच-नोंच कर कुचला है उसका उदाहरण भी दूसरा नहीं है । केवल दो गाथाएँ देखी जा सकती हैं -

काले भौंरे के समान / जिनके अग्रभाग घुँघराले थे /
ऐसे थे किसी समय मेरे केश /
वही आज जरावस्था में / हो गए हैं सन की छाल /
सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी मिथ्या नहीं होते (२५२)
पुष्पों से गुथा हुआ केशपाश / मंहकता था सुगंध की पिटरी सा
जरा अवस्था में उसमें / आ रही है खरहे के रोओं की गंध /
सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी मिथ्या नहीं होते (२५३)

बाइस गाथाओं की यह एक लम्बी गाथा है जिसकी मूलपंक्ति है "सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी मिथ्या नहीं होते ।"

अनलिखा इतिहास है महिला लेखन

"इतिहास में तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ झूठ होता है साहित्य मे तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ सत्य" यदि इस अतिवादी सरलीकरण पर न भी जाएँ तो भी इतना तो स्वीकारा जा चुका है कि कुछ वंशों का इतिहास ही किसी देश का इतिहास नहीं होता । कहना चाहिए इतिहास की यह सामन्तवादी धारणा है जो अब समाप्त हो चुकी है । वैसे भी मिथकों का इतिहास में और इतिहास का मिथकों में सन्तरण, रूपान्तरण और हस्तान्तरण होता रहता है ।

मध्य-कालीन इतिहास के अनछुए प्रसंग हैं महिला लेखन में । "सत्परीक्षा" एक ऐसा ही "अभिप्राय" है जिसे सीता को भी झेलना पड़ा था । जात के गीतों में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं, जो इतिहास में कहीं दर्ज नहीं है। एक लोक गीत में भौजाई के व्यंग्य से ननद प्राण देने के लिए प्रस्तुल होती है, वहॉ एक डोम बहला कर उसे अपने घर ले जाता है । चतुरता से सूप बेचने के बहाने वह अपने पति को खोज लेती है । पति उसके "सत्" की परीक्षा लेता है -

जहुँ तुहँ अगिया सत के होइबू न रे
आग तिल नाही जरे मोर देहिया न रे ।
लहलह अगिया जुड़ाइली हो न रे
अरे ताही बीच खड़ी सत्ती रनिया न रे ।
गॉव के बाहेर रजवा पोखरा खनवले न रे
अरे ताही विच डोम मठीअवलेनि न रे ।

"सत्" परीक्षा का एक और तरीका है खौलते हुए तेल के कड़ाह में हाथ डालना । एक अन्य लोक गीत मे बारह वर्ष की अवस्था मे पति व्यापार के लिए परदेस चला गया । बारह बरस बात लौटा तो बहन ने कान भर दिये *भौजी से सपद*

मुगलों के डर से उस जंगल में छिपी हूँ / मुगलों ने मेरे भाई और बाप को मार डाला/ इतना सुनते ही पुरुष ने स्त्री को घोड़े पर बैठा लिया । वे एक बन गए/ दूजे बन गये तीजे बन में स्त्री को प्यास लगी । स्त्री बोली हे जीवन संगी / बड़ी प्यास लगी है एक बूँद पानी पिलाओ । पुरुष ने कहा / इस वन के सभी कुएँ और ताल सूख गए है / पानी लहू के भाव हो गया है / एक ठंडे पानी का झरना बह रहा है/ पर वहाँ पचास मुगल खड़े हैं / स्त्री ने कहा हे दुलहा / हे जीवन संगी मुझे एक बूँद पानी पिलाओ नहीं हमारी-तुम्हारी प्रीति अब टूट रही है । सुनते ही पुरुष ने तलवार खींच ली / पचासों मुगलों को मार कर दुलहा युद्ध जीत कर अकेला खडा है / पत्ते के दोनों में दूलहे ने दुल्हन को पानी दिया / दुल्हन पानी पीती है, दुलहा दुपट्टे से हवा कर रहा है / दुलहन कहती हैं हे दुलहा मैं तुम्हारे हाथ बिक गई / तुमने मेरा धर्म रख लिया ।'

इस गीत के ठीक दूसरे छोर पर है रजलो का गीत । छः माह की अवस्था थी रजलो की जब उसकी माँ मरी थी । बारह बरस की होने पर उसे मुगल से प्रेम हो गया । रजलो ने गेहूँ की रोटी बनाई, ऊपर मुर्गी का झोल रख दिया । मुगल खा रहा है । रजलो पंखा झल रही है । मुगल की दाढ़ी सूप जैसी है और ऑखे बैल जैसी। झूठे मुख से मुगल ने रजलो का मुख चूमा तो उसे "उकताई" आ गई।

गाहुवाँ के रोटिया बनवली, ऊपर मुरगिया कै रे झोर ।
जेवँइ बइठले भोगला, रजलो बेनिया हो डोलाय ।
सूप अइसन दाड़ी भोगलवा के बरधा अइसन आँखें
ओही मुहे लिहलन भोगल चुमवाँ रजलो के छुटि उकिलाई ।

जहाँ पुरुष मौन हो जाता है वहाँ जन्म लेता है महिला लेखन

जो अंश खाली छूट गए हैं, उनके भराव में मिलता है महिला लेखन । आदि कवि की कविता का उत्स क्रौंच के करुण क्रन्दन में माना जाता है, परन्तु कुछ पहलू अनछुए ही रह गए है । कवीन्द्र रवीन्द्र ने उर्मिला की उपेक्षा पर तो कलम उठाई पर सीता के एकान्त क्षण वे भी नहीं देख सके । सीता का विरह तो काव्य की वस्तु बना, परन्तु उनके मातृत्व की वेदना गाँव देहात की सामान्य नारियो ने अनुभव ही नहीं की उन्हें वाणी भी दी । बाल्मीकि रामायण में लवकुश जन्म का प्रसग एक श्लोक में सूचित है -

"जिस रात को शत्रुघ्न ने पर्णशाला में प्रवेश किया था उसी रात में सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया-

यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्
तमेव रात्रि सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ।। ---- उत्तरकाड

"प्रसूता" एक सामान्य क्रिया है, जैसे एक सूचना भर दे दी गई हो । भवभूति ने राम के उत्तर चरित्र को काव्य की वस्तु बनाया परन्तु उनका उद्देश्य राम की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति ही अधिक रहा है तुलसी का मानस

राज्याभिषेक की ही कथा कहता है और वहीं पर चलताऊ ढंग से चारो भाइयो के दो-दो पुत्रों के जन्म लेने का गणित बैठा देते हैं ।

इसके विपरीत महिला लेखन सीता के साथ अंधेरी गुफा के पास खड़ा है जहाँ वह एकाकी अपनी पीड़ाओं को झेल रही है । वह स्वयं लकड़ी जला कर सद्यजात् पुत्र का मुँख देखती है -

सीता लकड़ी के किहिन अँजोर संतति मुख्य देखिन हो ।

उसकी चिन्ता है "हे पुत्र तुम विपत्ति में हु हो, बहुत ही साँसत है । हे पुत्र कुश ही ओढ़ना है, कुश ही बिछाना है / बनफल ही भोजन है / जो पुत्र तुम अयोध्या मे होते राजा दशरथ पूरा पट्टण लुटा देते / कौशल्या रानी आभूषण लुटाती ।"

पुत्र जन्म का "रोचना" सीता लक्ष्मण को भेजती है, परन्तु राम को नही/ राम को सूचना लक्ष्मण से मिलती है । वे गुरु को सीता को मनाने के लिए भेजते है, परन्तु सीता नहीं आती । तव वे स्वयं आते हैं । वन में उन्होंने दो बच्चो को गुल्ली-डंडा खेलते हुए देखा । वे पूछते हैं -

केकर तु पुतवा नतिअवा केकर हो भतिजवा हो

लरिकौ कोनी मयरिया कै कोखिया जनमि जुड़वायउ हो ।

बच्चों ने उत्तर दिया -

बाप का नौवा न जानौ, लखन के भतिजवा हो

हम राजा जनक के है नतिया सीता के दुलरुआ हो

यतना बचन राम सुनलेनि सुनहू न पउलेनि

रामा तरर तरर चुवै आँसू पटुकवन पोंछइ हो ।

आगे ऋषि की कुटी थी, सामने कदंब का सुन्दर वृक्ष था, जिसके नीचे सीता केश सुखा रही थी । राम पीछे जा कर खड़े हो गए ।

सीता ने मुड़ कर देखा राम ! राम बोले -

रानी छोड़ि देउ जियरा विरोग, अजोधिया बसावउ हो ।

सीता तोरे विनाजग अँधियार, त जिवना अकारथ ।

कुछ नहीं बोली सीता, एक टक देखती रही, और धरती में समा गई -

सीता आँखियाँ में भरली विरोग एकटक देखिन हो

सीता धरती में गई समाय कुछौ नाही बोलिन हो ।

इस मौन से कई महाकाव्य जन्म लेते हैं ।

साहित्य में "दूसरी परम्परा" की खोज तो की गई, परन्तु यह "तीसरी परम्परा" जब तक नहीं खोज ली जाती तब तक साहित्येतिहास आधा इतिहास ही है ।

◆ ◆ ◆

युवा कविता : घड़ी मिलाने का सही वक्त

युवा-कविता से हमारी मुराद किस कविता से है, इसे ठीक-ठीक परिभाषित कर पाना जोखिम का काम है । यह सही है कि किसी भी समय की महत्वपूर्ण कविता अपने समय में सीधा हिस्सा लेती है । इस अर्थ में वह कालांकित कविता होती है । उस सम्पूर्ण कालांकित कविता से युवतर कविता को पछोर कर अलग कर लेना ही परिवर्तन शील समय के विकासशील मुहावरे को रेखांकित कर पाना नही है । इतिहास इस तथ्य को वताता है कि जव भी साहित्य की जमीन पर कोई विद्रोह उपजा है उसमें साझेदार लोग प्रायः युवा पीढ़ी के रहे हैं । लेकिन इस तथ्य से कूदकर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि पीढ़ियों के साथ ही साहित्य-परिवर्तन होता है, बहुत वैज्ञानिक नहीं है । जर्मनी विद्वान क्रूनो ने १८७२ में इस सिद्धात का प्रतिपादन किया था । उसका विचार था कि साहित्य के इतिहास में कुछ क्षेत्रो मे परिवर्तन लाने वाले युवक लगभग एक ही आयु के रहे हैं । जर्मन स्वच्छन्दतावाद इसका एक स्पष्ट उदाहरण है ।[१] क्रूनों का सिद्धांत उसके समय में ही असामाजिक साबित कर दिया गया था । यदि हम यह मान कर चलें कि एक शताब्दी में तीन पीढ़ियाँ होती हैं, अर्थात् १८००-३३, १८३४-६६, १८७०-१९०० तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि पीढ़ियों की बिल्कुल इसी प्रकार एक दूसरी श्रृंखला १८००-१८३४, १८३५-७०, १८७१-१९०१ आदि-आदि भी हो सकती है । जीव वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर ये दोनों परम्पराएँ बिल्कुल समान हैं । अतः मौलिक रूप से पीढ़ियाँ किसी नव्य बोध और परिवर्तन के लिए कारगर नहीं मानी जा सकती । "कुल मिलाकर मात्र पीढ़ियों या सामाजिक वर्गों का परिवर्तन साहित्यिक परिवर्तनों की व्याख्या करने के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है । यह एक जटिल-प्रक्रिया है जो हर-अवसर पर बदलती रहती है । कुछ अंशों में यह आन्तरिक है और पिछले साहित्य के चुकने तथा परिवर्तन की आकांक्षा से उत्पन्न होती है । परन्तु साथ ही यह बाह्य भी है और सामाजिक, बौद्धिक व दूसरे समस्त सांस्कृतिक परिवर्तनो से उत्पन्न होती है ।"

पश्चिमी साहित्य में युवतर क्रान्तिकारी लेखन के लिए 'अवागार्द' की संज्ञा प्रचलित रही है । पिछले करीव सौ बरसों से 'अवागार्द' पश्चिमी-संस्कृति का एक अनिवार्य मिथ रहा है । 'अवागार्द' का सीधा सा मतलब है - सेना की अगली टुकड़ी । साहित्य और कला के क्षेत्र में उसमें मुख्य लेखकों और कलाकारों के उस वर्ग से है जिसमें अपने नये अनुभवों का सामना करने का साहस होता है, जो ऐसा करने के लिए अभिव्यक्ति के नए से-नए [illegible] विकसित करता है और जिसके कृतित्व मे बुनियादी उग्रता और [illegible] होती है ।[२] इस प्रकार का विद्रोही

लेखन व्यवस्था के विरुद्ध होता है । उनको बुनियादी हथियार व्यवस्था को शाक देना है। इस वर्ग के अन्दर वे लोग भी हैं जो अपने रचनात्मक प्रयत्नों से नई संभावना का दिशा-संकेत करते हैं । वे ऐसे क्षेत्रों की ओर बढ़ रहे हैं, "जिसमें कलायें एक दूसरे से नए सम्बन्ध स्थापित कर रही हैं" या भाषा, विज्ञान, विचार, प्रविधि और मानव-व्यवहार के नए रूपाकारों से संयुक्त हो रही हैं । यह तथाकथित यांत्रिकता के साथ कला को जीवित और जीवन्त रखने की कोशिश है ।" ये, और इस प्रकार के अन्य आन्दोलन जब तक वे किसी पुष्ट प्रामाणिक विचार से नहीं जुड़ते कुछ क्षणों के लिए बलबला उत्पन्न कर आत्मस्फीति का शिकार हो स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं, इसका कारण चाहे उनका व्यवस्था के साथ जुड़ना हो अथवा छद्म-विद्रोह का क्रमशः रीतना । वस्तुतः साहित्य में नया और पुराना काल और सन्दर्भित आयु बोधक शब्द उतने नहीं हैं जितने कि मूल्य-बोधक । नई पीढ़ी से अर्थ उस समुदाय से है जिसके पास नए मूल्यों के लिए विकलता और संवेदना है और जो अपने को आज के तनावों, सार्वभौम, संकट, मनुष्य की ट्रैजिक पीड़ा और उसकी नगण्यता और गरिमा के अन्तर्विरोध आदि से उत्कट रूप में संपृक्त करता है और इस संयुक्त दबाव में अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के माध्यमों का जागरूक आत्मचेतना के साथ प्रयोग या उन्हें पुनराविष्कृत करता है, और इस तरह रचनात्मक भाषा को नया संस्कार देता है ।"

१९६०-६५ के बाद हिन्दी कविता को पहली बार 'युवा कविता' के नाम से संबोधित किया गया था । जाहिर है, इसमें साठोत्तरी कविता के बाद के सभी तथाकथित काव्यान्दोलन कमोवेश शामिल थे । 'मोहभंग की नई कविता के बाद, युवा कविता इतिहास की एक अनिवार्य परिणति थी । साठोत्तरी कविता की मुख्य संवेदना 'निषेध' और 'अस्वीकृति' की थीं, यद्यपि दिशाहीनता के खतरे के कारण उसकी सार्थकता सन्देहास्पद रही । कविता में जो विद्रोह अकवियों द्वारा शुरू हुआ था उसमें सार्थक राजनीति का विकल्प नहीं था, इसलिए व्यवस्था विरोध का स्वर अप्रत्यक्ष रूप से व्यवस्था का पोषण ही करता रहा । अकविता ने आमूल परिवर्तन का दावा तो किया "नई कविता के इतर जिस काव्य-संवेदना का प्रारम्भ इस दशक की कविता में हुआ, वह युगान्तकारी और समय सापेक्ष्य है - - - इस दशक मे अस्वीकृति के विभिन्न स्वर कई काव्यान्दोलनों के नाम से मुखरित हुए और उन निषेधात्मक काव्याभिव्यक्तियों ने पिछले कई दशकों से चली आ रही काव्य-संवेदना मे आमूल परिवर्तन किया ।"[२] परन्तु उसे सफलता नहीं मिली । साठोत्तरी काव्य दो दिशाओं से निषेधात्मक ताकतें खड़ी करता है । आत्मपरक स्फीति और नाटकीय विडम्बना । 'कहीं कवि मैं' माध्यम से विक्षोभ, असन्तोष, अनिश्चय, गतिरोध, तनाव एवं संत्रास की स्थितियों को व्यक्त करता है, राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' इसी प्रकार की एक याद रह जाने वाली रचना है, निश्चित रूप से अपने सारे के बावजूद वह समय की तल्खी को गहराई से रेखांकित करती है सौमित्र मोहन और जगदीश चतुर्वेदी नाटकीय पात्रों की सृष्टि कर सारी सड़ांध

को व्यक्त करते हैं । 'लुकमान अली' इस प्रकार की पद्धति की रचना मानी जा सकती है । अकविता सभी प्रकार के स्थापित मूल्यों के विरुद्ध उपजी थी । परन्तु बहुत शीघ्र ही उसकी अपनी रूढ़ियाँ बनने लगीं । इन रूढ़ियों में साहसिकता और नग्नता प्रमुख है । अकवि की स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की कल्पना उतनी ही अवास्तविक और अधूरी है, जितनी छायावादी कवि की या जितनी जैनेन्द्र कुमार और यशपाल की।'[४] वर्ग चेतना जैसा कि जनवादी आलोचक कहते हैं - रहित लेखक संवेदनशील सरकंडों जैसे हैं, जिनमें जंगल की हवा बजती है, और रचनाओं में इन कवियों के कम्पन को देखकर जन-ज्वर की डिग्री का पता लगाया जा सकता है ।'[५]

साठोत्तरी कविता की दूसरी प्रवृत्ति जो क्रमशः अधिक गहरी होती गई, राजनैतिक सोच और जनविद्रोह की थी । यह माना जाने लगा कि राजनीति से रिश्ता एक प्रासंगिक सवाल है । अकविता का आक्रामक नयापन उसी प्रकार का था'' जिस तरह कुछ नृशंस तमाशा दिखाने वाले चार पैरों वाली गाय पर एक पॉचवी टाँग और सी देते हैं और भोले-भाले लोगों को ठगते हैं । कुछ इसी तरह आधुनिकता और नयापन हिन्दी की बाह्य गाय पर 'ग्रैफ्ट' किए गये । लेकिन असली नयापन मानवीय सहानुभूति तथा परम्परा की पुख्ता जमीन पर खड़ा हुआ अनुभव और दृष्टि का नयापन है, वह शब्दों पंक्तियों, तुकों, छंदों, टाइपफेसों या विचारों के साथ बलात्कार से पैदा नहीं होता ।'[६] लगभग इसीलिए अकविता एक वैयक्तिक काव्य-प्रक्रिया है, जिसका प्रयास है सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं को उघाड़ कर सामने रख देने का । वस्तुतः अकविता पर मुख्य आरोप घोर वैयक्तिकता और घोर यौन जिघांसा का है ।

सातवाँ दशक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक असन्तोष और विद्रोह का दशक रहा है । अतः राजनीति से गहरी सम्प्रक्ति इस दशक की कविता की प्रमुख विशेषता है । नयी कविता से पहले, प्रगतिवाद के रूप में कविता राजनीति के निकट आई थी, जिसके परिणाम स्वरूप मानवीय सहानुभूति और सामाजिक वास्तविकता का दायरा बढ़ा था । परन्तु इकहरे सामाजिक यथार्थ ने कविता को भोथरा बना दिया । इसकी प्रतिक्रिया राजनीति-शून्यता के रूप में देखी जा सकती है, नई कविता का अधिकांश अगर मानवीय प्रासंगिकता की दृष्टि से क्षीण और शक्तिहीन लगता है तो उसका एक प्रमुख कारण अवश्य ही राजनीति के प्रति नये कवि की अरुचि और उदासीनता रही है । लगता है कुछ इसी तरह का अहसास युवा कवियों को राजनीति की ओर ले गया । नई कविता की प्रायः मानवीय विपन्नता ने उन्हें बाध्य किया कि वे राजनीति से नया रिश्ता कायम करें । ''राजनीति से नया सम्बन्ध अंततः मनुष्य की सम्पूर्ण परिभाषा की खोज है - वह सुरक्षित साहित्य से जोखिम भरे साहित्य की ओर जाना है । वह नई कविता की बिंबमालाओं, प्रतीकों, मुद्राओं और रूढ़ियों में फँसकर अमूर्त हो गई मानव प्रतिमा को फिर जीवत ठोस और तात्कालिक बनाने की कोशिश है - वह उसे सभा, जलूसों, नारेबाजी भाषण कर्फ्यू, मतदान बहस षड़यंत्र क्रान्ति लाठीचार्ज युद्ध गुप्त नियंत्रण

मार्शल ला, चुनाव, संसद आदि में, यानी उसकी रोजमर्री की सार्वजनिक दुनियॉ मे रखने, पहचानने और प्रतिष्ठित करने की कोशिश है ।''[७]

लगातार लहरे गुस्से में चीखती हैं ।

अब जल्दी करो ।

फैसला होने को है ।

- - - झूठी कविता का स्वप्न पूरा नष्ट हो चुका'' **कार्ल मार्क्स**

अस्तु युवा कविता मूलतः विद्रोही कविता है, जिसमें कवि ध्वनि के स्थान पर वक्तव्य पर अधिक जोर देता है । वे भाषा में ऐंठते हैं, चिल्लाते हैं, कोलाहल करते हैं । यह प्रज्वलन के कारण है, जो स्थिति के असह्य हो जाने पर लावे की तरह फूटने-फटने लगता है । इस तरह की कविताओं का सौंदर्य वर्ण्यवस्तु के अनुपात में नहीं विस्फोट की शक्ति और ऊर्जा में है जो यथास्थिति को भस्म कर मानवता के लिए मार्ग साफ कर देती है ।'[८] युवा कविता में दोनों ही प्रकार के कवियों की हिस्सेदारी है । प्रतिबद्ध वाम कविता एवं किसी विशिष्ट, संकीर्ण राजनैतिक विचारधारा में न बॅधे होने पर भी जनसामान्य की मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध कविता । रघुवीर सहाय, धूमिल, सर्वेश्वर-दयाल सक्सेना, लीलाधर जगूडी, वेणुगोपाल, आलोकधन्वा आदि विद्रोही कविता के जाने-माने नाम हैं ।

जैसा कि स्वाभाविक था, विद्रोही वाम कविता की अपनी रूढ़ियाँ बनी, चलीं और घिसने लगी । मलयज ने प्रतिबद्ध कविता की इन रूढ़ियों को लक्षित करके ही लिखा था । "इधर यह साफ दिखाई दे रहा है कि खासकर वामपन्थी आग्रहों को झलकाने वाली कविताएँ अवधानाश्रित होने के कारण अपनी संरचना में अमूर्त्तता की ओर बढ़ रही हैं । उनमें एलिगिरी और फैन्टैसी का इस्तेमाल टुकडो मे खासा होने लगा है इससे लगता है कि दिमाग का शीशा इतना ज्यादा साफ हो गया है कि जीते-जागते आदमियों की जगह, आदमी के प्रतीक डोलते नजर आने लगे हैं । जिसे आजकल आम आदमी कहा जाता है, वह और कुछ नहीं आदमी का प्रतीक भर है । युग की समझ का दवाव कुछ इतना ज्यादा है कि कांक्रीट मानव-स्थितियाँ तुरन्त प्रतीक स्थितियों में बदल जाती हैं । अगणित कणो मे अनियंत्रित बटा फैला हुआ मानव-अनुभूतियों-संवेदनाओं का अपार समूह इस दबाव के प्रभावक्षेत्र में आकर जैसे चुम्वक छू जाने से, तुरन्त काले-सफेद बार्डर से वने चेस बोर्ड में सिमटकर व्यवस्थित हो जाता है और कवितायें अन्तिम फैसले के लिए कटिबद्ध युद्ध की चालों में बदल जाती हैं । फलस्वरूप कविताओं में एक प्रकार का अनुभूति-गत राष्ट्रीयकरण दिखाई देने लगता है । कोई कवि अनुभूति का कोई नया शीशा उभारता है और अधिक दिन नहीं बीतते कि वही शीशा और कवियो के अपेक्षाकृत भौड़े और अचतुर हाथों में पिटकर एक सॉचा बन जाता है और चल निकलता है । एक विशेष सन्दर्भ में उपजी अनुभूति अवमूल्यित सिक्के की सर्बजन सुलभता को अर्पित हो जाती है । मैं सोचना चाहता हूँ कि एक ही कविता का सैकडो कवियो द्वारा लिखा जाना क्या अच्छा है कविता के लिए ?[९]

होता सम्भवतः यह है कि किसी भी जनवादी आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था में शोषणकारी वर्गों के विरुद्ध एक प्रकार की सामूहिक चेतना रचना मे भी प्रखर होती है । यह सामूहिक चेतना एक अर्से तक अपनी वर्गगत विशिष्टता को भुलाए रखती है और सामूहिक अनुभवों तथा सरोकारों को उभारती है । जनवादी आलोचक ऐसा मानने का आग्रह करते हैं कि इसमें 'कलम चलाने वाले' और 'हल चलाने वाले' की अलग-अलग विशिष्ट और निजी स्थितियाँ रेखांकित नहीं होती । परन्तु एक स्थिति ऐसी भी आती है जब मूलतः शोषक वर्ग के विरुद्ध संघर्षशील रहते हुए भी, क्रान्ति या आन्दोलन के प्रति सम्बद्ध और आस्थावान रहते हुए भी विभिन्न वर्गों की निजी परिस्थितियाँ, चिन्ताएँ, कठिनाइयाँ भी अपनी अभिव्यक्ति पाने लगती है । वर्गीय शोषण का स्वरूप भी समस्त सामाजिक वर्गों के लिए 'एक सार नहीं होता । "ऐसे हठी लोग जो कभी भी कविता में १९७० जैसी सामूहिकता और वर्गातीत आन्दोलन-धार्मिता की माँग करते हैं, उन्हें पूरी छूट है कि वे वैसी ही कवितायें लगातार रचते रहें । उन्हें यह समझाने से कोई लाभ नही होगा कि येसेनिन और मायकोवस्की, दो भिन्न वर्गीय स्थितियों के दो भिन्न वर्गीय अनुभवों और संस्कारों के कवि होने के बावजूद क्रान्तिकारी कवि हैं ।'"[१०]

सन् १९७५ के बाद हिन्दी कविता में बदलाव आया है, बिना अपनी मौलिक चेतना और प्रतिबद्धता को तोड़े हुए । इसे चाहे आप "कविता की वापसी" कहे या "कविता में कविता की वापसी" चाहे दोनों को फूँक कर उड़ा दें । यह सच अपनी जगह पर है कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान तरुण कवियों की एक पीढ़ी खामोशी के साथ हिन्दी कविता के उर्वर प्रदेश में दाखिल हुई है, छोटे से बच्चे की तरह कविता हुई । इसे कभी कभी प्रगतिशील कविता के नये दौर[११] के नाम से भी पुकारा जाने लगा है । इनकी कविताओं में जितनी आत्मीय सहजता और सरलता है उतनी ही कलात्मक वक्रता और संरचनागत सौष्ठव भी । ऐसे ही कवियो के लिए संभवतः पाब्लो नेरुदा का यह कथन मौजू लगता है "कवि कोई लघु ईश्वर नहीं होता, वह दैवी आग चुरा लाने वाला प्रमथ्यु नहीं है, वह किसी विशिष्ट जाति की सन्तान नहीं होता उभयलिंगी या अनिष्टकर ! वह एक कारीगर होता है, जिसका एक कार्य होता है, लेकिन यह कार्य अन्य कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता, सिवाय तब, जब वह सामाजिक प्रतिक्रिया की शक्तियों का सामना करने की चुनौती स्वीकारता है । और यह भी एक जोखिम भरा काम है, क्योंकि कवि सच्चाई के रखवाले की हैसियत से बोलता है ।" इधर जो ताजे कविता-संकलन प्रकाश मे आएँ हैं और बहुत कुछ लघु-पत्रिकाओं के माध्यम से उभर कर आया है उससे यह सत्य बहुत प्रखरता के साथ स्पष्ट होता है । पुल पर पानी (ऋतुराज) एक दिन बोलेंगे पेड़ (राजेश जोशी) अपनी केवल धार (अरुण कमल) सुनो कारीगर (उदय प्रकाश) किस्से अरबों हैं (सोमदत्त) पहाड़ पर लालटैन (मंगलेश डबराल) खिड़कियो पर लगे कागज (हरिशंकर अग्रवाल) आदि संकलन एवं अन्य कविताएँ वेहद आत्मीयता के राग की कविताएं हैं । इन रचनाओं में विद्रोह और संघर्ष का स्वर ज्यादा साफ और तीव्रता के साथ उभर कर आया है यह अवश्य है कि इस सघर्ष

का रूप इकहरा और सपाट न होकर बहुयामी और जटिल है । कविता में फिर से एक कोमल आत्मीय प्रसंगों का विस्तार दिखाई पड़ता है तथा प्राकृतिक उपकरण जो कविता के क्षेत्र से खदेड़ दिये गये थे फिर से उधर आये हैं और सामाजिक स्थितियों को ऑकने वाली दृष्टि के साथ आए हैं । हालांकि इससे कुछ अतिरिक्त जनवादी समालोचक नए रूपवाद के खतरे से चौकन्ने भी दिखाई पड़ रहे हैं । कविता अब अधिक बोलने का जोखिम नहीं उठा रही, जरूरत से ज्यादा तो बिल्कुल नही। सही मायने में 'वयस्क' और विनम्र' हो उठी है ।

संघर्ष कविता में महज एक शब्द नहीं है, वरन् वह गहरे मानवीय सरोकारो और सामाजिक आशय को व्यक्त करता है ; कहीं सीधे-कहीं ध्वनि के माध्यम से। प्रकृति के उपकरण कवि की सार्थक लड़ाई के भी उपकरण हैं । कवि उसे अपनी जूझने वाली मानसिकता का हिस्सा मानता है -

हजारों मील दूर एक चिड़िया
पिंजरे के खिलाफ
हवा के लिए लड़ रही है
एक काली चिड़िया **-राजेश जोशी**

साठोत्तरी कविता भाषिक चेतना को लेकर काफी चिन्तित रही है प्रायः सभी विशिष्ट कवियों ने अपनी कविताओं में भी भाषा पर अनेक वक्तव्य दे डाले है । आज की युवा कविता की सामाजिक प्रतिबद्धता ने उसे भाषा और बिम्बों के प्रति नई चेतना दी है बिना भाषा के हलके में हल्ला मचाए हुये । जिससे इन कविताओं की सम्प्रेषणीयता बढ़ा दी है और कलात्मक चमक पैदा हुई है । ठीक बोल चाल की लय, और गंवई गांव की भाषा की ओट में प्रखर व्यंग उदय प्रकाश की इस कविता में देखा जा सकता है -

आखिर जेठ की धूप में
आँच तो रहेगी ही मालिक
आखिर हवा में धूलधक्कड़ तिनका पत्ता तो होगा ही
आपके सामने किसनियाँ की तरह खड़ी तो नहीं होगी
हवा सिर झुकाए . . . . . . अदब से . . .
और हवा / इसके मन की बात न पूछिए मालिक
जितना ही आप गुस्सा लेंगे / उतनी ही सिर पर दौड़ेगी
कंघी पाटी मेटती

-उदय प्रकाश (मालिक आप नाहक नाराज है)

समकालीन कवियों ने अपनी समझ का भी निरन्तर विकास किया है । आज की युवा कविता सामाजिक यथार्थ के बाह्य ढॉचे तक ही सीमित नहीं है उसकी पकड़ कही गहरे है उसमे यथार्थ को भीतरी बुनावट और उसके

को पकड़ सकने की क्षमता भी विकसित हुई है । "लिहाजा कविताओं के प्रति विश्वसनीयता पहले से बढ़ी है !" युवा कवि अपने दृष्टिकोण को अपने जीवानुभवो का अभिन्न अंग बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं । इस अर्थ में यह फार्मूला बद्ध कविता नही है । ये अनुभव वायवी मात्र रूमानी भी नहीं है । समकालीन कविता के अनुभव-संसार का ठोस भौतिक आधार है और कवि हमारे जाने हुए को पहचाना हुआ बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं ।

राजनैतिक विषयों और घटनाक्रम को सीधा-साधा कविता में प्रक्षेपित कर देना आज की रचना का स्वभाव सा बनता जा रहा है परन्तु फिर भी इसे 'अखबारी कविता' की संज्ञा देकर छुटकारा नहीं पाया जा सकता । उदाहरण के लिये अरुणकमल की यह कविता जिसमें गंगोत्री के पास अमेरिका द्वारा परमाणु यंत्रो को लगाये जाने की खबर अखबार की कटिंग से ली गई है परन्तु अपनी दृष्टि और सवेदना से जोड़कर गहरी अर्थवत्ता भर दी गई है -

आज मैंने जाना
जो आदमी को प्यार नहीं करते
उनकी कोई गंगा नहीं
कोई मातृभूमि नहीं,
कोई अपना तारा नहीं । **अरुण कमल (गंगा को प्यार)**

समकालीन युवा कविता का सौन्दर्य छायावादियों का प्रकृत्ति-सौन्दर्य नही है, उसी प्रकार जैसे कि वह नई कविता का प्रकृति-सौन्दर्य नहीं है, इस सौन्दर्य का ठोस भौतिकतावादी आधार है । वे "ललाट सटाकर सूर्यकिरण छान रहे पेड़ों" के उस समय के दुर्द्धर्ष सौन्दर्य का चित्रण करते हैं जब वे आपस में टकराकर" मथ रहे हैं बादलों से भरा आकाश" और जब "गरजता है गगन/ और बिजलियों की देह में सोखने को उद्यत/गरजते हैं धरती की ओर से /ये वृक्ष ।" गहरे सामाजिक सरोकार से जुड़कर प्रकृति संवेदना से गुजर कर प्रतीकों की दुनियाँ में प्रवेश करने लगती है । तब सूर्योदय महज रोज घटने वाली एक घटना नहीं रह जाता -

सूर्यादय
औचक से घट जाने वाली
अनायास घटना नहीं
क्षण-क्षण
टूटना है अँधेरों का
तार-तार
बूँद-बूँद
घुलना है चुप चुप
काटना है उजास का -मनमोहन सूर्योदय

अरुण-कमल के काव्य-संसार में प्रकृति सिर्फ प्रतीक बनकर नहीं आती, बल्कि वह अपने नैसर्गिक रूप से कवि को उल्लसित करती है । वे बच्चों के 'तलवों' से माँ के 'दूध की गंध की हल चल' देखते हैं और चलती ट्रेन से "तेज चल रही ट्रेन झोंक रही हवा को खिड़कियों की राह /बेलचे से भर-भर"

उनकी कविता में जैसे समूची धरती चाक पर रखी हुई सार्थक-सृजन के अभिनव आकारों में ढल रही है । पता नहीं कौन सी कोख में बचा हुआ जीवन फिर से फेंकता है कक्षा ।

चिड़िया और पेड़ की तरह 'मां' और 'बच्चा' भी अब लगभग रूढ़ि बन जाने के किनारे पर है । कविता में ये संज्ञाएँ व्यक्ति वाचक न होकर जाति वाचक हैं? वे किसी ठोस रूप रंग को व्यक्त नहीं करतीं (संभवतः रूपवाद के फतवे से बचने के लिए) और इसलिये बिम्बग्रहण नहीं कराती (अध्यापक होने के नाते इस शब्द-प्रयोग के लिए क्षम्य समझी जाऊँ) एक कम चर्चित युवा कवि की कविता है-

माई
मुन्ना और मुन्नी
बड़े हो रहे हैं
चाकू की धार पर
खड़े हो रहे हैं
उनमें एक बेचैनी
एक बुदबुदाहट
आकार ले रही है
शायद
आखिरी लड़ाई
शुरू होने वाली है

प्रदीप सौरभ (भाई के बहाने)

विष्णु नागर ने उदय प्रकाश की कविता पर लिखते हुए जो कहा, वह प्रायः सभी युवा कवियों के लिए सच है । "सबसे अच्छी कविता बन्दूक का सबसे बुरा छर्रा साबित होगी ।" सबसे अच्छी कविता सबसे बुरे दिनों में याद आएगी और देखते-देखते आग बन जाएगी ।"

"एक रोटी का सवाल है ।"
ध्यान आया मुझे
अपनी घड़ी मिलानी थी !
पर
अब क्या हो ?
घड़ी मिलाने का सही वक्त तो वही था न

जब हमने कहा था
'एक कविता का सवाल है ।"

राजेन्द्र कुमार (एक कविता का सवाल)

सन्दर्भ

१- रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन-साहित्य-सिद्धान्त
२- अशोक बाजपेयी, फिलहाल, पृ. ५२
३- जगदीश चतुर्वेदी, निषेध
४- अशोक बाजपेयी, फिलहाल, पृ. ५२
५- विष्णुखरे, आलोचना की पहली किताब पृ. २१२
६- मलयज, संवाद और एकालाप, पृ. ६४
७- उदय प्रकाश, आलोचना ६६,
८-१२, गीता शर्मा, आलोचना ६६.

कविता की मुक्ति का कवि निराला

वह कवि होता है जो कुछ नया रचता है, वह बड़ा कवि होता है जो अपने ही रचे हुए को तोड़ता है और वह सबसे बड़ा कवि होता है जो तोड़े हुए को फिर से नया गढ़ता है । निराला हिन्दी के सम्भवतः एकमात्र कवि हैं जो इन तीनों प्रक्रियाओं से गुजरे हैं । तीनों ही स्थितियों में उन्होंने नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं । 'परिमल' उनकी प्रथम काव्यकृति के रूप में समादृत है । यद्यपि इससे पूर्व उनका संग्रह 'अनामिका' प्रकाशित हो चुका था, परन्तु वह अप्राप्त है और उसकी सभी रचनाएँ परिमल में समाहित कर ली गयी हैं । छायावादी काव्य धारा को छूते हुए भी उसमें निराला के निजी तेवर स्पष्ट हैं । "भूमिका में ही निराला ने अपना क्रान्तिकारी अग्रलेख दिया है, मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है । मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना । . . . . मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण का ही मूल होती है ।" अपने इस कथन से निराला ने हिन्दी कविता के एक सर्वथा नये युग का द्वार खोला । यह बात हम आज जितनी आसानी से कह सकते हैं, उस समय सिर्फ निराला ही कह सकते थे। . . . . मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र की सब छोटी बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसारित दृष्टि मे एकाकार, एक ही गति में उठती-गिरती हुई. . . मुक्त छंद तो वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है . . . मुक्त छन्द का समर्थन उसका प्रवाह ही है । वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम साहित्य उसकी मुक्ति । 'परिमल' की मूलतः यही दृष्टि उसके वर्गीकरण में कार्य कर रही है । प्रथम खण्ड में सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ हैं, दूसरे में विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास और तीसरे में 'स्वच्छंद छन्द' की कविताएँ । यह भी निराली बात ही है कि प्रथम काव्य-संग्रह में 'बादल राग', 'सन्ध्या सुन्दरी', 'भिच्छुक', 'विधवा', 'जूही की कली' जैसी सम्पुष्ट कविताएँ मिलती हैं । छायावाद के धरातल पर होते हुए भी सामाजिक यथार्थ का मौजूद होना भी निराला का वह विशिष्ट तेवर है जो आगे चलकर धारदार होता गया । यदि किसी एक ही अवदान की चर्चा करनी हो तो, मुक्त छंद वह विधा है जिसके माध्यम से निराला ने हिन्दी कविता को उसका भविष्य सौंपा था ।

मुक्त छंद का आविष्कार कर निराला अपने दूसरे काव्य-संग्रह 'गीतिका' में संगीत में नयी जमीन तोड़ते हैं । उन्होंने 'गीतिका' के माध्यम से हिन्दी कविता मे एक नये [illegible] को रचने का प्रयास किया है । भूमिका मे वे स्पष्ट करते हैं

'इन संस्कारों के फलस्वरूप हिन्दी-संगीत की शब्दावली और गाने का ढंग, दोनों ही मुझे खटकते रहे । न तो प्राचीन 'ऐसो सियरघुवीर भरोसो' शब्दावली अच्छी लगती थी, यद्यपि इसमें भक्तिभाव की कमी न थी, न उस समय की आधुनिक शब्दावली 'तोप-तीरे सब धरी रह जायेगी मगरूर सुन, यद्यपि इसमें वैराग्य की मात्रा यथेष्ट थी । हिन्दी गवैयों का सम पर आना मुझे ऐसा लगता था, ऐसे मजदूर लकड़ी का बोझ मुकाम पर लाकर धम्म से फेंककर निश्चिन्त हुआ । मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की अच्छी-अच्छी सौन्दर्य भावनाओं से मुक्त न होगी, वह समर्थ न होगी । उसकी सम्पूर्ण प्राचीनता जीर्ण है ।.... मात्र प्राचीन होने पर भी प्रकाश का नवीन ढंग लिये हुए है । साथ-साथ उनके व्यक्तीकरण में एक-एक कला है, जिसका परिचय विज्ञ जन अपने अन्वेषण से प्राप्त कर सकेंगे । यहाँ मैं उन पर विशेष रूप से न लिख सकूँगा । वे उस रूप में हिन्दी के न थे, इतना मैं लिखे देता हूँ । स्वयं निराला ने इसका उदाहरण दिया है -

प्राण धन को स्मरण करते

नयन झरते । नयन झरते ।

धम्मार की चौदह मात्राएँ दोनों पंक्तियों में हैं । गति भी वैसी ही है । इसके अन्तर में विशेषता है -

स्नेह ओत-प्रोत,

सिन्धु दूर, शशिप्रभा दृग

अश्रु ज्योत्स्ना-स्रोत ।

यहाँ पहली और तीसरी पंक्ति में चौदह-चौदह मात्राएँ नहीं हैं, दूसरी मे है । पहली और तीसरी पंक्ति में मात्रा भरने वाले शब्द इसलिए कम हैं, कि वहाँ स्वर का विस्तार अपेक्षित है, और दोनों जगह बराबर पंक्तियाँ रखी गयी हैं । यह मतलब गायक आसानी से समझ लेता है ।

संगीत की दृष्टि से नया प्रस्थान होते हुए भी रचना की दृष्टि से विशेष परिवर्तन नहीं है । प्रकृतिपरक गीतों में 'सखि वसंत आया' 'डूबा रवि अस्ता चल', प्रार्थनापरक गीतों में 'कौन तम के पार रे कहा', जग का एक देखातार', राष्ट्रीय गीतों में 'जागो जीवन धनि के', 'भारती जय विजय करे' गीत प्रमुख हैं । कृति का पहला गीत वर दे, वीणावादनि वर दे' उस बिन्दु को स्पष्ट करता है जहाँ से निराला की कविता यात्राएँ चल रही थीं -

नव गति, नव लय, ताल-छंद नव,

नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,

नव नभ के नव विहग-वृन्द को

नव पर, नव स्वर दे ।

बड़ी कविता वह होती है जो अपने कवि के नाम से पृथक् होकर भी जीती है आज बहुत से स्थाना पर बिना कवि के नाम को जाने यह कविता

वंदना-गीत के रूप में स्वीकार की जा चुकी है । आभिजात्य और जन-स्पर्श की अनोखी मिसाल है यह ।

'अनामिका' निराला का तीसरा काव्य-संग्रह है, जिसमें निराला के कवि का संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत हुआ है । 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति', 'तोडती पत्थर' आदि कालजयी कविताएँ इसी संग्रह में हैं । इसी क्रम में 'तुलसीदास' औदात्यपूर्ण लम्बी कविता को भी गिना जा सकता है । यह युग निराला की कविताओं में व्यष्टि और समष्टि के संघर्ष का युग है ।

'कुकुरमुत्ता' में निराला ने अपने रचना संसार को तोड़ा है - एक अतिवादी सीमा तक । छायावाद की जो आभिजात्य काव्य परम्परा निराला में विकसित हुई, उसका चरम उत्कर्ष 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' था । उसके ठीक दूसरे कोने पर जन्म लेता है । 'कुकरमुत्ता' जिसमें निराला ने बड़ी निर्ममता से अपनी प्रतिष्ठित काव्य प्रतिमा को तोड़ा है, और उसके स्थान पर सुगढ़ हाथों की अनगढ़मूरत रख दी है । यह प्रतिस्थापन निराला ने जानबूझकर किया है, पूरी शक्ति के साथ किया है । पुस्तक के प्रथम संस्करण की भूमिका जिसका शीर्षक है 'जियाफ़त' (दावत) निराला के अन्तर्मन में घटित होने वाले आन्दोलन का 'जायका' देता है । इसमें वही शरीक होंगे, जिन्हें न्योता नहीं भेजा गया, साथ ही जो कंगाल नही, न ऐसे बड़े आदमी, जो अपनी जगह खड़े रह गये । मतलब साफ है । हम दोनों मतलब के । न हम पैर पड़े न वह । मेहनत की कमाई हम भी खायें और वह भी । अकविता के सौन्दर्य शास्त्र रचना की शुरुआत यहाँ से मानी जा सकती है । 'अणिमा' मे उनकी पुरानी गीतियों का विकास मिलता है । बेशक उन पर गहराती करुणा की धारा गहरी हो गयी है । उसमें न तो 'राम की शक्ति पूजा' जैसा औदात्य है न संश्लिष्टता । पर तराश है । कवि गेयता को उनकी पहली शर्त मानता है -

बादल छाये
ये मेरे अपने सपने
आँखों से निकले मँडलाएँ ।

\+ \+

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है ।

प्रयोगधर्मिता का जो उजास, 'कुकुरमुत्ता' से शुरू हुआ था, 'बेला' उसी का विकास है । भूमिका में निराला ने पहले की भाँति कोई उद्घोषणा नहीं की । सीधे-सादे शब्दों में अपनी कविताओं का बखान कर दिया, 'बेला' मेरे नये गीतो का संग्रह है । प्रायः सभी तरह के गेयगीत इसमें हैं । भाषा सरल तथा मुहावरेदार है । गद्य करने की आवश्यकता नहीं । देशभक्ति के गीत भी हैं । सबसे बढ़कर नयी बात यह है कि अलग-अलग बहरो की ग़ज़लें भी हैं जिनमें फारसी के छन्द शास्त्र का निर्वाह किया गया है काव्य की कसौटी भी है पाठकों की हिन्दी मार्जित हो जायेगी अगर उन्होने आधे गीत भी कठाग्र कर लिये जो आज की

ब्रजभाषा के प्रभाव के कारण अधिकांश जन तुतलाते हैं, खड़ी बोली के गीत खुलकर नहीं गा पाते । प्रायः सभी दृष्टियों से उनको फ़ायदा पहुँचाने का विचार रखा गया है । स्पष्ट है कि कवि जन सौन्दर्यशास्त्र रच रहा है -

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ आओ ।
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली,
खोलेंगे अँधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ ।

'नये पत्ते' की भूमिका 'विज्ञापन तक उतरती लगती है । निराला लिखते है : 'नये पत्ते इधर के पद्यों का संग्रह है । सभी तरह के आधुनिक पद्य हैं, छन्द कई, मात्रिक, सम और असम । हास्य की भी प्रचुरता, भाषा अधिकांश मे बोलचालवाली । पढ़ने पर काव्य के कुंजों के अलावा ऊँचे-नीचे फारस के जैसे टीले भी । अधिक मनोरंजन और 'बोधन' की निगाह रखी गयी है कि पाठकों का श्रम सार्थक हो और ज्ञान बढ़े । वे अपनी भाषा की रूप-रेखाएँ देखें ।' इस संकलन मे राजनैतिक विद्रूपता, पाखंड, अन्याय और विसंगतियों को उभारा गया है । 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'झींगुर डटकर बोला', 'मंहगू मँहगा रहा' आदि कविताएँ अपनी पहचान में आधुनिक हैं । 'देवी सरस्वती' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और बडी रचना है । 'वर दे वीणा वादिनी' की सरस्वती को खेतों में उतारा गया है -

नामित शशि से भरी सुन्दर वन वसना
श्वेत शशि मुखी, जगती पर मधुराधर हँसना ।

'अर्चना', 'आराधना', 'गीतगुंज', और 'सांध्य काकली' निराला के अन्तिम युग की रचनाएँ हैं । इनमें निराला ने अपने रचना-संसार को पुनः तोड़ा है । निरन्तर संघर्ष ने उन्हें जनवाद से जोड़ा था । परन्तु वह भी खोखला ही निकला -

विफल हुई साधना स्नेह देह की
असफल आराधना स्नेह की,
बिना दीपक की रात गेह की ।
हार गया जीवन रण
छोड़ गये साथी जन
एकाकी नैश छण
कण्टक पथ, विगत पाथ

प्रार्थनापरक कविताएँ एक करुण-शीतल आस्था की उपज हैं । निराल की प्रार्थनाएँ भी उनके एकाकी व्यक्तित्व के लिए नहीं हैं ' वे सम्पूर्ण लोक की मुक्ति मे ही अपनी मुक्ति खोजत हैं

खग को ज्योति : पुंज प्रात दो
जग-ठग को प्रेयसी रात दो,
मुझको कविता का प्रपात दो,
अविरत मरण-मरण हाथ दो,
बँधे परों को उड़ते वर दो ।

आधुनिक हिन्दी कविता के विकास को हम जिन तीन युगों में बाँटकर देखते हैं, उनके विभिन्न सूत्र निराला से आकर जुड़ते हैं । जो मोड़ हिन्दी कविता ने तीन युगों में पार किये, उन्हें निराला ने अपने एक ही जीवन में पूरा कर लिया ।

टी. एस. इलियट ने एक स्थान पर कहा है कि सबसे बड़ा योगदान जो कविता कर सकती है, वह है भाषा की समृद्धि । प्रत्येक कविता भाषा में कुछ और नया जोड़ जाती है । इस दृष्टि से हिन्दी कविता की भाषा समृद्धि में सबसे बडा योगदान निराला का है । जितना अधिक निराला की काव्य-भाषा पर कार्य हुआ है, वह उतनी ही निखरती जाती है । ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरे सी निकाई' । जिस समय निराला ने लिखना प्रारम्भ किया था, काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली का निर्माण ही हो रहा था और स्वयं निराला भी हिन्दी के बहुत अच्छे ज्ञाता नहीं थे । 'गीतिका' का समर्पण करते समय उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, 'जिस हिन्दी के प्रकाश से प्रथम परिचय के समय, मैं आँखें नहीं मिला सका - लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से कुछ काल बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस हिन्दीहीन प्रान्त में, बिना शिक्षक के 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर, पद-साधना की और हिन्दी सीखी थी ।' उनकी काव्यभाषा की इतनी अधिक भंगिमाएँ हैं, जिनमें से प्रत्येक अपना विकास समकालीन हिन्दी कविता मे करती है । महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि निराला अपनी काव्यभाषा के सम्बन्ध मे सचेत रहे हैं और उस पर टिप्पणियाँ भी करते रहे हैं । सच्ची रचनात्मक काव्यभाषा वही होती है जो अपने साथ अपने कवि को भी गढ़ती है और पाठक को भी, साथ ही वह भविष्य की रचनाशीलता को उत्तेजित कर उसका पथ प्रशस्त करती है । अन्य छायावादी कवियों के संदर्भ में देखा जाये तो निराला की काव्य भाषा की विशिष्टता और भी स्पष्ट होती है । प्रसाद की काव्यभाषा का चरम 'कामायनी' थी। उसे अन्य दिशाओं में मोड़ने का अवसर ही उन्हें नहीं मिला । महादेवी की काव्यभाषा अपने निर्धारित मार्ग पर अन्त तक बढ़ती रही । पंत की काव्यभाषा अपने उत्तरार्द्ध मे लगभग तनावहीन हो चुकी थी । लेकिन, निराला की काव्यभाषा लगभग चौकानेवाले ढंग से नये सीमान्तों का स्पर्श करती हुई कभी-कभी दुरुहता तक पहुँच जाती है ।

कविता के 'अर्थ करने' की परम्परागत परिपाटी के हाथों से निराला की काव्य भाषा बार-बार फिसल जाती है इसी परम्परा मे निराला ने मौनभाषा का नितान्त नया प्रयोग किया है

मौन मधु हो जाय
भाषा, मूकता की आड़ में
मन सरलता की बाढ़ में
जलविन्दु-सा वह जाय ।

अपनी काव्य-भाषा के प्रारंभिक दौर में निराला ने स्वर-विस्तार और नाद-योजना की सम्भावनाओं का साक्षात्कार कराया है । 'बादलराग' श्रृंखला की कविताएँ इसका पुष्ट उदाहरण हैं । सांगीतिक योजना से जुड़कर ये कविताएँ इतनी विशिष्ट हो गयी हैं कि वे निराला का पर्याय बन गयी है ।

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घर घोर ।
राग अमर ! अंबर में भर निज रोर ।
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरु, तरु, मर्मर, सागर में
सरिता-तड़ित्गति-चकित पवन में

अन्य छायावादी कवियों की काव्य-भाषा से निराला इस अर्थ में भी विशिष्ट हैं कि वे शब्द से अधिक उसकी प्रयोग-विधि को महत्त्व देते हैं । इसीलिए वे कहीं-कहीं तत्सम शब्दों के बीच तद्भव शब्द का प्रयोग कर लेते हैं । 'राम की शक्ति पूजा' की प्रारंभिक पंक्तियों में 'राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह-क्रुद्ध कपि विषम हूह' में 'हूह' शब्द वानरों के संदर्भ में अधिक व्यंजक हो गया है । 'अर्चना' के गीत 'तिमिर-दारुण मिहिर दरसो' में काव्य संस्कारनिष्ठ संरचना के बीच 'दरसों', 'परसों', 'बरसों', 'हरसो' ऐसी ठेठ क्रियाओं का प्रयोग किया है । क्रियाओं के प्रयोग, उनकी बहुलता और विविधता निराला की काव्यभाषा की पहचान है । 'राम की शक्ति पूजा' का प्रथम बंद तो विशिष्ट है ही, साधारण-सी लगने वाली इन पंक्तियों में -

जाओ देवीदह, उषाकाल होते सत्वर,
तोड़ो, लाओ, वे कमल, लौटकर लड़ो समर'

छह क्रियाओं का प्रयोग हुआ है जो एक साथ हनूमान के सामर्थ्य, राम की अधीरता और कविता की गति प्रकट करती हैं । पाण्डेय शशि भूषण 'शीतांशु' ने निराला की कविताओं में अर्थवत्ता की तीन दशाएँ वताई थीं. अर्थ की विधिता, सूक्ष्मता और उच्चआशयता । अर्थ की विविधता, अर्थ की सूक्ष्मता, अर्थ की क्रमिक तीव्रता और चरम सीमानतता का कारण प्रायः व्यंजना शक्ति है । वहाँ अर्थ वहुमूल्यता के मूल में प्रतीक विधान की सक्रियता है जिसके माध्यम से शब्दों के सामान्य अर्थ फीके पड़ जाते हैं और प्रतीकित अर्थ बहुमूल्य हो जाता है । अर्थ की उदात्तता का सम्बन्ध भाव की आवेगिता, संश्लिष्ट बिम्बात्मकता, गत्वरता तथा पद शैय्या की अनुकूलता से है । वस्तुतः जैसा कि डेविड डैचेज ने कहा है - 'सच्चा रचनात्मक लेखक पोखरे में डाले जाने वाले पत्थर की तरह हमारे मस्तिष्क के प्रति शब्दों को अर्पित करता है और अर्थ के फैलते दायरे हमारे अनुभव के

खजाने के चारों ओर चक्कर मारते उन्हें वलयित करते हैं । निराला की काव्य-भाषा इस शर्त को पूरा करती है ।

'कुकुरमुत्ता' निराला की आभिजात्य काव्यभाषा में दूसरे किनारे पर उगा है । जीवन की भट्ठी में तपी हुई भाषा है यह । यह चुनौती या शब्द से संघर्ष और यह विषय अप्रतिम है क्योंकि यह संघर्ष दूसरों की अपेक्षा अपने ही द्वारा अर्जित, आविष्कृत और सफलतम रूप में प्रयुक्त शब्द बंध के विरुद्ध है । 'पेट में डंड पेले हो चूहे जवां पर लफ्ज़ प्यारा' इसी विसंगति को स्पष्ट करने वाली पंक्ति है -

आया मौसम, खिला बनारस का गुलाब,
बाग पर उसका पड़ा था रोबोदाब
वहीं गंदे में उगा देता हुआ बुत्ता
पहाड़ी से उठे सर ऐंठ कर बोला कुकुरमुत्ता -
अबे सुन बे, गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतराता है केपीटलिस्ट ।

निराला के तीसरे युग की काव्य भाषा एक बार फिर अपनी ही प्रतिमा को तोड़ती है परन्तु इस बार जो नया रूप बनता है, उसमें पिछली दोनों प्रतिमाओं के अवशेष हैं । एक ओर इन कविताओं में एक प्रकार की शब्द क्रीड़ा का कौतुक है जिसे आगे चलकर केवल प्रयोगवादी कविताओं में ही नहीं रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा में खास तौर पर लक्षित किया गया । दूसरी ओर गीतों की भाषिक सरचना कवि की वैयक्तिक रुग्णता के बावजूद भरपूर जीवनी शक्ति से सम्पन्न है । इसी कारण कवि आधुनिक परिवेश के तीखेपन को छूते हुए भी कातरता, स्नेह, आस्था, वैराग्य की अद्‌भुत छवियाँ निर्मित करता है । एक ओर 'ऊँट बैल का साथ हुआ है' 'मानव जहाँ बैल घोड़ा है' जैसे गीत युग की पूरी अमानवीयता को स्पष्ट करते हैं, दूसरी ओर 'काम रूप हरो काम', 'अशरण शरण राम' के विनय पत्रिका की संवेदना 'जिधर देखिए श्याम बिराजे' में कृष्णभक्ति की एकतानता और तीसरी ओर एक तटस्थ आत्म-करुणा -

जय तुम्हारी देख भी ली
रूप की, गुण की, सुरीली ।
वृद्ध हूँ मैं, ऋद्धि की क्या
साधना की, सिद्धि की क्या,
खिल चुका है फूल मेरा
पंखुड़ियाँ हो चलीं ढीली ।

निराला की के विभिन्न आयामों को देखते हुए एक प्रश्न सहज ही उठता है कि उनकी वास्तविक भूमि क्या है राम की शक्ति पूजा या गरम

पकौड़ी', 'सरोज स्मृति' या 'कुकुरमुत्ता' । सच तो यह है कि यहीं निराला निराला है । वे न स्वयं को कहीं बाँधते हैं न कविता को । उनका घोषणा-पत्र ही 'कविता की मुक्ति' का हैं । 'बाँधो न नाँव इस 'ठाँव बंधु' का रचयिता किसी एक ही स्थान पर काव्यभाषा को बाँधता नहीं । निरन्तर गति ही उसकी इयत्ता है । रेखांकित करने की बात यह है कि इस तीसरे युग की काव्यभाषा ही आगे चलकर विकसित हुई । प्रगतिवादियों से लेकर समकालीन कविता तक निराला की इसी भाषा के आवर्त दिखायी पड़ते हैं ।

काव्यभाषा की ही भाँति, काव्य-रूपों की दृष्टि से भी निराला ने हिन्दी कविता को बहुत समृद्ध किया है । सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि समकालीन कविता का कोई काव्य रूप नहीं, जिसका प्रयोग निराला ने न किया हो । छायावाद को महाकाव्य प्रसाद दे चुके थे कामायनी के रूप में । निराला ने महाकाव्य तो नही लिखा परन्तु महती प्रेरणा, महत् उद्देश्य और महती काव्यभाषा का सन्तुलन 'राम की शक्ति पूजा' में किया है । इलियट के 'वेस्टलैण्ड' की तरह उसे भी 'इपक इन अ नटशेल' कहा जा सकता है । इस प्रकार लम्बी कविताओं का एक नया रूप विकसित हुआ जिसे महाकाव्य का विकल्प माना जा सकता है । लम्बी कविताएँ प्रसाद ने भी लिखी हैं, परन्तु निराला की कविताओं का द्वन्द्व और नाटकीयता अलभ्य है । लम्बी कविताओं को रचनात्मक स्वीकृति बाद में मिली, परन्तु निराला के प्रथम काव्य संग्रह से ही लम्बी कविताएँ मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं । 'राम की शक्ति पूजा', 'पंचवटी प्रसंग' और 'तुलसीदास' सांस्कृतिक लम्बी कविताएँ है । तीनों में प्रसंग राम काव्य का है, तीनों में ही कथा का आश्रय लिया गया है । 'यमुना के प्रति' में स्मृति के सहारे अतीत की रचना की गयी है, जिसका मूल स्वर 'करुणा' का है । 'जागरण' में वैदिक संस्कृति का परिदृश्य चित्रित किया गया है और उसकी संरचना उद्‌बोधनपूर्ण है । सांस्कृतिक-पौराणिक संदर्भ की कविताओं मे 'देवी सरस्वती' विशेष महत्त्वपूर्ण है । 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' स्वयं सिद्ध है ही । लम्बी ऐतिहासिक कविताओं में 'महाराज शिवाजी का पत्र' और 'दिल्ली' को रखा जा सकता है । 'कुकुरमुत्ता' लम्बी कविताओं में आज भी अकेला ही खड़ा है, और यही स्थिति 'सरोज स्मृति' की भी है । मुक्तिबोध को निराला का जुझारू व्यक्तित्व तो विरासत में मिला ही, उन्होंने लम्बी कविता को अपना निजी शिल्प बना लिया, जिसके लिए उन्हें कहना पड़ा -

नहीं होती, कहीं भी खत्म,
कविता नहीं होती ।'

समकालीन कविता ने 'नवगीत' और 'गजल' का रूप भी बीज रूप मे निराला से ही प्राप्त किया, यह दूसरी बात है, कि उसे विकसित अपनी तरह किया है । अपने रचनाकाल के तीसरे मोड़ पर निराला ने जो प्रगीत लिखे हैं, नवगीत उनके बहुत समीप है । कहा जा सकता है दोनों ने ही अपनी प्रेरणा लोकगीतों मे प्राप्त की है गजलों में निराला ने उर्दू शब्दों को अधिक अपनाया है पर हिन्दी का प्रवाह है

हँसी के तार के होते हैं, ये बहार के दिन ।
हृदय के हार के होते हैं, ये बहार के दिन ।
निगाह रुकी कि केशरों की वेशिनी ने कहा
सुगन्ध भार के होते हैं, ये बहार के दिन ।

एक अछूता काव्य- रूप, जिस पर अभी विद्वानों का ध्यान संभवतः कम गया है, निराला की 'बादलराग' संबंधी कविताओं में मिलता है । किसी और प्रचलित अभिधान के न मिलने के कारण उन्हें 'श्रृंखला कविताएँ' कहा जा सकता है । 'परिमल' में 'बादलराग' में छह कविताएँ संकलित हैं, जिनकी संरचना और आन्तरिक अन्विति विशिष्ट है । अज्ञेय की मरुभूमि श्रृंखला की कविताएँ उससे सीधे जोड़ी जा सकती हैं ।

निराला की, हिन्दी कविता को क्या देना है, इसका आकलन आज ही बैठकर करना संभव नहीं है । उसमें अनन्त संभावनाएँ हैं । निराला ने स्वयं भारतीय कविता की विरासत को अर्जित किया था, इसलिए उनका रचना-संसार समकालीन कविता के लिए एक जीवंत विरासत है, जरूरत उसे अर्जित करने की है । यह जरूरत इसी शर्त के साथ पूरी होगी, जिस शर्त के साथ निराला ने स्वयं को बार-बार तोड़कर गढ़ा है ।

◆ ◆ ◆

शब्द से मौन तक की यात्रा

हम इक्कीसवीं सदी में जा रहे हैं या नहीं परन्तु इतना जरूर सच है कि तमाम कोशिशों के बावजूद यह समाज साहित्यिक समाज नहीं रह गया है, जहाँ अक्षरों की निराभास प्रतिष्ठा हो । सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की प्रदीर्घ साहित्यिक यात्रा निरन्तर शब्द की साधना में ही लगी रही । एक रचनाकार के लिए, इससे बड़ी चुनौती क्या हो सकती है कि वह चीजों और उनके होने के अहसास को एक नए नाम से संबोधित कर सके । शब्दों का 'तल्पतरु' उनकी साधना का वह बट-वृक्ष था जिसकी हरेक डाल जड़ के रूप में बार-बार उगती है। बरसों पहले की उनकी एक कविता है "मुझे तीन दो शब्द कि मैं कविता कह पाऊँ" इन तीन शब्दों की खोज में उनकी कविता मौन की ओर बढ़ती हुई कविता है । पहला शब्द वह जो जिह्वा पर लाया न जा सके, दूसरा, वह जो कहा तो जा सके पर दर्द से ओछा ठहरता हो, और तीसरा खरा शब्द वह, जिसे पाकर यह प्रश्न उठाया जा सके कि क्या इसके बिना काम नहीं चलेगा ? अर्थात् वे तीन शब्द जिनसे गुजर कर अन्ततः मौन र हा जा सके ।

सच्चिदानंद हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' किसी व्यक्ति का नाम नहीं, एक सम्पूर्ण संस्था का नाम है जो बीसवीं शताब्दी के भारत की मर्यादाएं स्थापित करने वाले इतिहास निर्माताओं की सूची में अमर रहेगा । उनकी 'कार्यशाला' साहित्य था, परन्तु उनके व्यक्तित्व को केवल साहित्यकार की संज्ञा कोई सतही आलोचक ही दे सकेगा । सभ्यता और संस्कृति की खोज और उसकी निरन्तर पहचान अज्ञेय की प्रमुख चिन्ता थी । साहित्य उनकी सम्पूर्णता की खोज का सशक्त माध्यम था । समाज निर्माण के जो साधन मनुष्य ने विकसित किए हैं, उनमें से एक को भाषा को - - उन्होंने अपना केन्द्रीय साधन चुना था । उन्होंने राजनीति को नकारा न हो, परन्तु सत्ता की राजनीति साहित्य तथा साहित्यकार पर हावी न हो सके इसके लिए जुटकर संघर्ष किया । यह खोज अज्ञेय की रचनायात्रा के हर पड़ाव पर जारी रही। साहित्य की कोई भी विधा हो, या सम्पादन की चुनौती उन्होंने भाषा के संसार में बिना हल्ला मचाए सार्थक और रचनात्मक हस्तक्षेप किया और जड़ता को कुछ इस तरह तोड़ा, कि उसके तोड़ने और नई संवेदना के बनने में, हर नया साहित्यकार अपनी शक्ति भर कुछ न कुछ नया कर सकने के लिए बाध्य हुआ । "चुपचाप नई सवेदना, नई भाषा और जीवन की नयी गहरी समझ, साहित्य के द्वारा समाज मे पैठती चली गई ।"

किसी भी यात्री की उपलब्धि की गणना के लिए यह आवश्यक है, कि हम उस बिन्दु की स्थापना कर सके जहाँ से उसने चलना शुरू किया था इस दृष्टि

से यह तथ्य दिलचस्पी का बायस हो सकता है, कि अज्ञेय जी की प्रथम कृति जिस समय प्रकाशित हुई, यह वह समय था, जिसमें हिन्दी की सभी विधाओं में कालजयी कृतियाँ प्रकाशित हुई, और आगे चलकर दिशा बोधक मानक भी साबित हुई। कविता के क्षेत्र में कामायनी, राम की शक्तिपूजा, उपन्यासों में गोदान और आलोचना के क्षेत्र में चिन्तामणि, लगभग समकालीन और समानान्तर रचनाएँ हैं। सम्पन्नता की चरम सीमा तक पहुँचे हुए इस उत्सवधर्मी साहित्य के भीतर से एक नयी राह तलाश करने की इच्छा और उसे पूरा करने की सामर्थ्य ही वह बिन्दु है जहॉ से अज्ञेय की रचना यात्रा को रेखांकित किया जाना चाहिए। यहीं से कविता की एक नई पहचान बननी शुरू होती है। तार सप्तक की भूमिका में 'राहों के अन्वेषी' शब्द का जो प्रयोग अज्ञेय ने किया है वह उनके रचना-संसार का भी बीजशब्द है। इसके माध्यम से ही उनकी रचनात्मकता को ठीक-ठीक समझा जा सकता है 'बावरा अहेरी, तो स्वयं वे ही थे, निरन्तर किसी नई वस्तु के आखेट में व्यस्त, हर वक्त कुछ- न- कुछ यहाँ तक कि सन्नाटा भी, बुनने की चिन्ता में लगे हुए।

यह बात बिना हमारा ध्यान खींचे नहीं रहेगी कि हिन्दी के किसी भी कृतिकार के जीवन और साहित्य में इतनी विविधता नहीं रही, जितनी अज्ञेय मे। उनका जीवन रचनात्मकता का मुकम्मल अहसास था जो अपनी ही नहीं, बाद की पीढ़ी के लिए भी रोशनी मुहैया करता रहा। उनका सम्पूर्ण जीवन ही साहित्य की कार्यशाला थी। साहित्य की तरह वे जीवन में भी निरन्तर प्रयोग करते रहे। सेना में नौकरी से लेकर अध्यापन तक उनकी मंजिल के बीच कई पड़ाव आए। सम्पादन का क्षेत्र उन्हें सबसे अधिक रास आया। परन्तु यथासमय जिस चुनौती को उन्होने स्वीकार किया, उसे नई दिशा दी। ऐसे व्यक्तित्व बहुत कम होते हैं, जो सभी दिशाओं में समान रूप से प्रकाशित हों। बल्कि सच तो यह है, कि कवि रूप मे प्रतिष्ठित होने से पहले अज्ञेय कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उसका सामान्य कारण तो यही था, कि कविता के संबंध में हमारी समझ पर पुराने संस्कार हावी थे, विशेष रूप से छायावादी कविता का संसार एक चुनौतीपूर्ण मानदंड हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर चुका था। ऐसे समय में फिर से नई लकीर खींचने का साहस कम महत्वपूर्ण नहीं है।

अज्ञेय की काव्ययात्रा निरन्तर निष्कर्ष की ओर जाने वाली यात्रा है, इसीलिए वह समकालीन भारतीय कविता को प्रभावित करती रही है। वह अनेक अर्थों में विशिष्ट है। "एक तो वह गहरी और पारदर्शी है - ऊपर से लगे कि इसके भीतर झाँक नहीं सकते, पर जरा झुककर देखो तो सब साफ-साफ दूर तक दीखे। कवि ने यह पारदर्शिता आहुति बनकर देखने की प्रवृत्ति से पाई है। यह निर्धूम प्यार में स्वाधीनता छीनने वालों के प्रति घृणा की ज्वाला में सहजता की कठिन साधना में और नर की आँखों में कौंधने वाली नारायण की व्यथा में अपनी आहुति देता आया है। दूसरे इसमें कवि कर्म के प्रति केवल सतही नहीं, गहरी सजगता है अज्ञेय अपने जीवन-अनुभव को काव्यानुभव के साथ बराबर तौलते रहे है

वह कर्ममात्र में पूरी तल्लीनता के साथ संपृक्त रहकर कुशलता को अपना स्वधर्म मानते रहे हैं ।''

अज्ञेय के लिए साहित्य केवल रचना ही नहीं जीवन को जोड़ने की भी कला थीं । नदी में कविता पढ़ने से लेकर, पेड़ पर घर बनाकर रहने तक उनके रचनात्मक जीवन के ही अंग थे । आलोचकों में 'व्यक्तिवादी' विशेषण से प्रसिद्ध अज्ञेय ने साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने का जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया वह अपने मे अभूतपूर्व है । उनके यायावर रूप को यदि एक क्षण के लिए परे भी हटा दिया जाय, तो भी सार्थक और सोद्देश्य यात्राओं में 'जानकी-जीवन' यात्रा जैसे घर-घर पहुँचकर द्वारा खटखटाना ही है । वत्सल निधि के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष होने वाले शिविर युवापीढ़ी के साथ सीधे संवाद की परिस्थिति उत्पन्न करते थे ।

अज्ञेय की कविता के विकास का धरातल निश्चित रूप से विषम नही है- उसमें गति की एक सीधी रेखा और भावात्मक विकास की एक स्पष्ट तार्किक परिणति देखी जा सकती है । अज्ञेय को घोर अंहवादी कहने वालों के लिए उनकी प्रारभिक कविता का यह उदाहरण दृष्टव्य है -

सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !
तुम, जो भाई को अछूत कह वस्त्र बचाकर भागे,
तुम, जो बहिनें छोड़ बिलखती बढ़े जा रहे आगे ।
रुक कर उत्तर दो, मेरा है अप्रतिहत अज्ञान -
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान ।

भावना का परिपक्व उनका चिंतक रूप उनकी सम्पूर्ण कविताओं के केन्द्र मे हैं ।कहीं-कहीं यही चिन्तन कवि को दार्शनिक और रहस्यवादी रूप प्रदान करता है और मितकथन के लिए बाध्य करता है ।

आज, नहीं तो कल, अज्ञेय के लिए सही समीक्षा की शुरुआत होगी ही, और तब शायद इस तथ्य पर लोगों का ध्यान जाए कि उनका रचनात्मक साहित्य कितने नए रूपों के लिए जिम्मेदार था । हिन्दी में ठीक-ठीक यही बात सिर्फ निराला के लिए कही जा सकती है । लम्बी-कविताओं में 'असाध्य वीणा' का संगीतात्मक रूप, और छोटी कविताओं में 'हाइकू' शैली का मित कथन उनके सामर्थ्य ओर सन्तुलन के प्रमाण है । इस संबंध में उनकी श्रृंखला कविताएँ विशेष ध्यान की माँग करती हैं । उनकी 'सागर मुद्रा' शीर्षक श्रृंखला कविताएँ विशेष प्रसिद्ध हुई । उनका नवीनतम, और अन्तिम भी, कविता संग्रह' ऐसा कोई घर आपने देखा है'' एक प्रकार से श्रृंखला कविताए ही हैं, जो एक प्रकार से अज्ञेय की काव्य-चेतना का विस्फोट ही है । भाषा, भंगिमा वस्तु, जीवन-दृष्टि-सर्वत्र एक नई गहराई के साथ-साथ एक ऐसी ऋजुता जो सीधे मर्म तक पहुँचती है और मानो समूचे अस्तित्व को गुंजा जाती है । मिथकों के प्रयोग के द्वारा कवि अनुभव की नई गहराई को छूता है ओर पाठक को भी उस प्रकाश के घेरे में ले आता है जिसमे वह अपना घर बनाना

चाहता है, - वह घर जिसमें चाहे जिधर से भी झाँको, तुम्हें पार का दृश्य दीख जाएगा घर नहीं दिखेगा ।

मेरा घर
दो दरवाजों को जोड़ता
एक घेरा है
मेरा घर
दो दरवाजों के बीच है
उसमें किधर से भी झाँको
तुम दरवाजे से बाहर देख रहे होगे
तुम्हें पार का दृश्य दीख जाएगा
घर नहीं दीखेगा
मैं ही मेरा घर हूँ
मेरे घर में कोई नहीं रहता
मैं भी क्या
मेरे घर में रहता हूं
मेरे घर में
जिधर से भी झाँको

अन्तिम दिनों में वे 'मरुस्थल' शीर्षक से एक कविता श्रृंखला लिख रहे थे, जिसे वे अपने लकड़ी के घर में पढ़ना चाहते थे । इस कविता-क्रम में रेगिस्तान को समय, उसकी ऋतुओं, मुद्राओं और उसकी अस्मिता पर केन्द्रित सघन अभिव्यक्तियाँ थीं ।

देवता अब भी
जलहरी को घेरे बैठे हैं
पर जलहरी में पानी सूख गया है ।
देवता भी धीरे-धीरे
सूख रहे हैं
उनका पानी
भर गया है ।
धूप-यष्टियाँ
रेती में दबती जा रही हैं
रेत की चादर -ढकी अर्थी में बंधे
महाकाल की छाती पर
काल चढ़ बैठा है
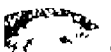
अज्ञेय का काव्य-शिल्प बराबर कसता और निखरता गया और भाषा तरलतर होती गई । "दुधर्ष विद्रोह, प्यार का आवेग, जीवन के सुख दुःख का आस्वाद अपनी धरती और अपने आकाश की सतत उदग्रतर पहचान इस पहचान के आलोक में विश्व मात्र के लिए चिन्ता का स्फुरण, विराट को अंजुरी में भरने का और उसके प्रति अर्पित होने का भाव, अहंकार को तोड़कर व्यक्तित्व को सम्पूर्णतर बनाने का भाव नये मानवीय संकटों को पहचानते हुए मनुष्य के सन्तारक विवेक में अप्रतिहत आस्था, स्मृति मति और प्रज्ञा का सन्तुलन और इन सबसे अधिक विमोहक स्वयं पर्युत्सुक रहने वाला और दूसरो को पर्युत्सुक करने वाला कौतुकी बालक का या यों कहें फक्कड़ का भाव - ये सब कहीं एक साथ दीखता है तो अज्ञेय की काव्य-यात्रा में ।

कवि ने पूँछा था -

घर के भीतर प्रकाश हो
इसकी भी मुझे चिन्ता नहीं है
प्रकाश के घेरे के भीतर मेरा घर हो-
इसकी मुझे तलाश है
ऐसा कोई घर आपने देखा है ?
देखा हो
तो मुझे भी उसका पता दें

हम आज कवि को शायद उस प्रकाश से घिरे हुए घर का पता न दे सकें, पर हम जानते हैं कि ऐसा घर है अवश्य, हमने उसे देखा है, कवि स्वयं निर्मित कर उसे हमारी परम्परा के लिए छोड़ गया है ।

♦ ♦ ♦

गोर्की पाँच आयामों से

कुछ घर बिना दीवारों और छत के होते है । आप निरन्तर विस्तृत होते हुए वृत्तों के रूप में अनन्त आसमान और पैरों के नीचे सृजनशील धरती का कोई टुकड़ा जिनके बीच कलाकार का स्वर तरल रगों और ध्वनियों की तरह एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है । मुझे लगता है गोर्की एक ऐसा घर है जिसके भीतर सारी दुनियां शंख के घेरों की तरह सिमट आई है नाम और सन्दर्भों को काटकर जो कुछ शेष रह जाता है- वह कलाकार है मानव है यानी गोर्की है -

(एक)

२० मार्च १८६८ के दिन दोपहर के समय वोल्गा तट पर स्थित निज्हनी नोवगोरोद में अलैक्सी मैक्सिममोविच पैश्कोव गोर्की का जन्म, चार वर्ष की आयु मे पिता और छः वर्ष की आयु में माता की मृत्यु, दस वर्ष की आयु में काम की तलाश में भटकाव-शिक्षा के लिए अथक पर असफल प्रयत्न, क्रान्तिकारी छात्रों से सम्बन्ध और १८८७ में उन्नीस वर्ष की अवस्था में आत्महत्या का प्रयत्न, इक्कीस वर्ष की अवस्था में पहली गिरफ्तारी . . . . . . यह था वह कुछ जिसने गोर्की को गोर्की बनने के लिए सजाया और यहीं से गोर्की का सृजन काल प्रारम्भ होता है ।

उन्नीसवीं शती के अन्त में गोर्की का गठन होता है और यही समय है जबकि स्वाधीनता आंदोलन का नया युग आरम्भ होता है जिसमें मजदूर वर्ग सबसे आगे है । इस सम्बन्ध में सन् ११११४ में लेनिन ने लिखा था कि रूसी स्वाधीनता आन्दोलन की तीन मन्जिलें हैं जो कि रूसी समाज के तीन मुख्य वर्गों के अनुरूप हो । गोर्की का साहित्यिक विकास युग भी इसी के समानान्तर चला है ।

गोर्की के रचनाकाल की पहली स्थिति तो वह है जिसमें उसने मानवतावादी परम्पराओं को अपनाया और उसमें अपने संघर्षमय जीवन के रोमान्तिक तत्वों का समावेश किया । मनुष्य के प्रति सहानुभूति उसको बलि पशु बनाने वाली जीवन की परिस्थितियों का प्रतिवाद इन सबने गोर्की की कलात्मक दृष्टि का वह पैनापन दिया और वह अभिव्यंजना की शक्ति दी जिसका प्रभाव सीधे पाठक के अन्तर मन पर पड़ता है ।

१८६० में गोर्की की साहित्यिक सर्जना का आरम्भिक युग प्रकट हुआ । इन्हीं वर्षों में रूस में क्रान्तिकारी श्रमिक आन्दोलन के विकास का आरम्भिक युग भी प्रकट हुआ । उसकी बढ़ती हुई शक्ति के अनुरूप ही गोर्की भी पुष्ट हुआ और उसके विकास ने गोर्की को पक्का क्रान्तिकारी बना दिया । गोर्की के लेखक की दूसरी अवस्था मूल रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन के उग्र उभार और तेजी से संबन्धित है

जो १६८० में शुरू होती है और प्रथम रूसी क्रान्ति के युग में अपना सर्वोच्च विकास प्राप्त करती है । अपनी सर्जना में गोर्की के लेखन की इस दूसरी अवस्था का बडा महत्व है । इस युग में उसकी महत्वपूर्ण कृतियाँ 'मां' निचले तले पर तथा अन्य प्रकाश में आईं । युग के महत्वपूर्ण प्रश्नों को गोर्की की कृतियों में अभिव्यक्ति मिली और उसने रूसी समाज के विभिन्न स्तरों को स्पर्श किया । क्रान्ति की प्रारम्भिक असफलता के बाद गोर्की ने प्रतिक्रियावादियों से जिहाद बोल दिया । वह लिखते है "उनका साहित्य देश भक्ति की भावना से शून्य है सामाजिक समस्याएँ उनकी सर्जना को नहीं उद्बुद्ध करती । वह ऊँचाई से फिसलकर दैनिक जीवन की घटनाओं मे फँस जाता है । वह संसार का दर्पण नहीं रह जाता है वरन् शहर की धूल मे पडा हुआ कांच का छोटा सा टुकड़ा बन जाता है । इस टूटे टुकड़े से वह संसार के विशाल जीवन को नहीं प्रतिविम्बित कर पाता वरन् टूटी हुई आत्माओं के टुकडो को प्रतिविम्बित करता ।"[१]

गोर्की उन कलाकारों में से हैं जो अपने सुपुष्ट जीवन दर्शन और स्रवणीय अनुभूतियों के माध्यम से साहित्य में सर्वथा नये युग का प्रारम्भ तो करते ही हैं साथ ही उन्हें नापने तौलने के लिए नये प्रतिमानों का निर्माण भी करते हैं । समाजवादी यथार्थवाद गोर्की का वह प्रतिमान है जिसे उन्होंने भूमिकाएं भी दी और कसौटी भी।

समाजवाद को प्राप्त, अथवा समाजवाद की ओर अग्रसर होने वाले समाज की विविध प्रवृत्तियों को यथार्थवादी शिल्प विधान के द्वारा प्रस्तुत करने की प्रणाली को समाजवादी यथार्थवाद कहते हैं[३] गोर्की ने भी माना है कि वास्तव व्यवहार मे जो समाजवादी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं उन्हीं के प्रतिबिम्ब के रूप में साहित्य मे समाजवादी यथार्थवाद विकसित हो सकता ।[४]

वैसे तो यथार्थवादी साहित्य का विषय ही समाज का वास्तविक चित्रण है, परन्तु समाजवादी यथार्थवादी समाज का वास्तविक चित्रण करते हुए भी, अपना एक विशेष दृष्टिकोण सामने रखता है, उस दृष्टिकोण के अनुसार यथार्थ के आवश्यक अगों को स्वीकृत करता है अनुपेक्षित भागों की उपेक्षा करता है ।

समाजवादी यथार्थवाद के मूल में मार्क्स तथा एञ्जेल्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वह विकास मूलक धारणा है जो दो परस्पर विरोधी तत्वो के बीच चलने वाले चिरन्तन संघर्ष की भूमि में प्रतिक्षण एक नए परिवर्तन की सूचक बनती हैं और यह परिवर्तन यांत्रिक भौतिकवादियों के मत के विपरीत सदा ही एक गुणात्मक विकास की योजना करता है । विकास की यह प्रक्रिया भी निरन्तर चलती रहती है और इस प्रकार सदैव ही एक उन्नयन की भूमिका सामने आती रहती है । प्रतिगामी तत्व शिथिल तथा जर्जर होते हुए भी सदैव नए और शक्तिशाली तत्वों को स्थान देते रहते हैं । इसीलिए समाजवादी यथार्थवाद का मूल तत्व समाजवादी वास्तविकता का अंकन नहीं वरन् यथार्थ जीवन का समाजवादी की दृष्टि से अंकन है । प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक राल्फफाक्स ने अंग्रेज उपन्यासकार फील्डिंग के विषय म लिखते हुए कहा था उमे निरे वर्णन या विश्लेषण

से ही नहीं बल्कि परिवर्तन से, कार्य-कारण मम्बन्ध से, संकट और द्वन्द्व से सरोकार रखना चाहिए।"[५] इसीलिए समाजवादी यथार्थवाद का आग्रह है कि लेखक वस्तुगत यथार्थ को उसकी सम्पूर्ण भूमिका में उतार सके । विरोधी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष की जितनी ही सजीवता, विशदता तथा तीव्रता के साथ वह चित्रित करेगा, उस संघर्ष के वह जितने आयामों को देखेगा, उसकी कला भी उतनी ही शक्ति सम्पन्न होगी । इन मुख्य दृष्टि की परिणति कुछ अन्य गौण साहित्यिक सिद्धान्तो के रूप में होती है कि-

- ऐतिहासिक विकास की मूलभूत अन्तर्धाराओं का ज्ञान नये को समर्थन देकर जर्जर प्राचीन का बहिष्कार, ऐतिहासिक समझ, जीवन के 'पाजिटिव' पक्ष पर अधिक बल ।
- समाज में व्याप्त वर्ग संघर्ष तथा वर्गीय असंगतियों का गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण तथा उद्घाटन ।
- मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अंकन जीवित, सक्रिय तथा सामाजिक मनुष्य की प्रतिष्ठा, "पॉजिटिव हीरो" की सृष्टि ।
- भविष्य के एक क्रांतिकारी, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न तर्कसम्मत विजन का मूर्तीकरण ।[६]

अप्रैल १८८८ में मागरिट हार्कनेस को पत्र लिखते हुए ऐंगेल्स ने यथार्थवाद का सूत्र स्थापन किया था "मेरी समझ में यथार्थवाद विस्तार के सत्य के अलावा प्रारूप परिस्थितियों में प्रारूप चरित्रो को सत्यतापूर्ण पुनर्कृति सूचित करता है ।" इस सूत्र का खंडीकरण इस प्रकार किया जा सकता है -

(१) **विस्तार के सत्य-** कृत्रिम विवरणों द्वारा सत्य को न ढकना, फिजूल के विवरणों का त्याग, विस्तृत विवरणों के बीच में एक ऐतिहासिक पूर्ण उसी प्रकार खोज निकालना जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वृक्षों के संयोग के गहन वन को जान लेना ।

(२) **प्रारूप चरित्रों की सत्यतापूर्ण पुनर्कृति-** इस कृति में यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण नहीं, कलाकार की निजी जीवन दृष्टि और सामाजिक चेतना का भी द्वन्द्व ग्रहण हो ।

(३) **सत्यता पूर्ण हो-** शिव और सुन्दर भी हों लेकिन भराव सत्यता का ही हो ।

(४) **प्रारूप चरित्र-** वे चरित्र जो अपवाद न हों, अति मानव न हो, एकांतिक व्यक्ति न हो, बल्कि ऐसे हों जो एक समूह का प्रतीक हो, वे अपना ही नहीं समाज के किसी सम्बन्ध, घटना जीवन दृष्टि या चेतना के वाहक हों ।

(५) **प्रारूप परिस्थितियाँ-** ये परिस्थितियाँ भी ऐसी चुनी हुई हों जो अनावश्यक तत्वों की सॅवार छांटकर परिवर्तन क्रम को देख सकें, वे विशिष्ट कार्य व्यापार या चरित्र परिवेश उद्घाटित करती हो

अर्थात् यथार्थ वस्तुगत सत्य को प्रगट करने के साथ-साथ ऐतिहासिक प्रवाह और सामाजिक सम्बन्धो को भी स्पष्ट करता है । इस यथार्थ का सत्य तटस्थ न होकर पक्ष का है जो प्रगति का समर्थन वहन और निर्माण करता है ।

यथार्थ की वर्णन-द्विविधाता पर मार्क्स का निम्नलिखित सूत्र ऐंगेल्स के सूत्र का उपसिद्धांत हो सकता है । फरवरी १८४८ की फ्रान्सीसी क्रांति से सम्बन्धित दो पुस्तको की आलोचना में मनुष्यों तथा घटनाओं के सत्यतापूर्ण चित्रण को मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि - "यथार्थ में राफेलवादी सौन्दर्य दृष्टि का परित्याग तथा रेम्ब्रावादी सौन्दर्य दृष्टि का ग्रहण किया जाना चाहिए ।"

सफलवादी सौन्दर्य दृष्टि में सभी चित्रात्मक सत्यता गायब हो जाती है, क्योकि उसमें शान शौकत और अनावश्यकता का अंकन होता है और वास्तविक रूप लुप्तप्रायः हो जाता है । लेकिन चटकीली रेम्ब्राई रंगों में घटनाओं और घटनापूर्ण लोगों का अंकन अन्तिम रूप से अनावश्यक अलंकृतियों का परित्याग करके मानववाद का चित्रण करता है जिसमें उनके सजीव गुण झलक पड़ते हैं । अत अनावश्यक अलंकृति का त्याग और सजीव गुणों से युक्त वास्तविकता का ग्रहण ही यथार्थता की कलात्मक प्रकृति को आलोकित करता है ।

इस प्रकार "यथार्थवाद की पहली मंजिल में भौतिक वस्तुओं तथा इन्द्रियो का आपसी क्रिया का प्रत्यक्षीकरण है, दूसरी मंजिल में प्रत्यक्षक के मनोवैज्ञानिक रुझानों और मस्तिष्क का सम्मान हो जाता है, तीसरी मंजिल में पूर्ण यथार्थ की खोज मे विचारधारा की दृष्टि भी आ जाती है, चौथी मंजिल में सांस्कृतिक पैटर्न कलात्मक यथार्थ की खूबी प्रकट करता है और पांचवी मंजिल में गोपित मतों का प्रकाशन भी वांछित यथार्थ पेश कर सकता है ।" सामाजिक यथार्थ ने पदार्थ और मन के सत्यो का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा ज्ञान मीमांसक विवेचन अर्पित किया है ।

समाजवादी यथार्थवाद के संस्थापक के रूप में गोर्की के कलात्मक विकास मे १९०५ की घटनाओं ने जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, वह संयोग की बात नही थी । समाजवादी साहित्य के मार्ग दर्शक के रूप में गोर्की ने अपने कृतित्व मे कला और समाजवाद को समन्वित करने के उस प्रयास को परिलक्षित किया जो विश्व साहित्य में एक अरसे से व्यक्त हो रहा था । उनकी कलात्मक जिज्ञासा और खोजों का स्रोत वे परिवर्तन थे जो जीवन में घटित हो चुके थे, वे नये तत्त्व थे जो क्रान्तिकारी समाजवादी आन्दोलन द्वारा सामाजिक जीवन में आविर्भूत हो गए थे ।

गोर्की के कृतित्व में समाज के समावादी रूपान्तरण को केवल एक सम्भव और वांछनीय आदर्श के रूप में ही नहीं, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर प्रस्तुत किया । उसे एक ऐसी नियमवद्ध प्रक्रिया के रूप में पेश किया गया है जिसकी नींव मेहनत कशों ने स्वयं अपनी सम्पूर्ण जीवनधारा और अपने उत्सर्ग पूर्ण संघर्ष द्वारा रखी है । इस तरह इसमें यथार्थ और आदर्श के वीच सम्वन्ध सूत्र सामने आ जाते है और जीवन का सामान्यीकरण एक नया चरित्र प्राप्त कर लेता है गोर्की ने सामाजिक जीवन के नितात विविधतापूण तथ्यो और को चित्रित और

उनका सूक्ष्म कलात्मक विश्लेषण करके उन बातों पर बल दिया जो जीवन के पुनर्गठन में सहायक होती हैं और जिनमें भविष्य का अंकुर निहित रहता है ।

गोर्की बिम्ब को उसकी अनवरत और अन्तरद्वन्द्वपूर्ण गतिशीलता के द्वारा ही ग्रहण करते थे और अनेकतापूर्ण परिवर्तनों में उसके रूपान्तरण के परिपक्व होते हुए तत्वों का दर्शन करते थे । इनका विश्वास था कि पूरी सक्रियता के साथ जीवन का पुनर्निर्माण ही मनुष्य की वास्तविक प्रक्रिया है । यथार्थ के प्रति नये दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति जिन रूपों में हुई, उसमें क्रांति-पूर्व की कृतियों में सर्जित गोर्की के चरित्र सम्मिलित हैं । ये चरित्र ऐसे लोगों के हैं जो न केवल अन्यायपूर्ण व्यवस्था स्वीकार करने से इनकार कर देते हैं बल्कि यह भी महसूस करते हैं कि इनके पास उस व्यवस्था को बदलने की जीवन को विवेकपूर्ण और न्यायपूर्ण तरीके से पुनर्गठित करने की शक्ति मौजूद है ।

गोर्की ने ए. एस. रचेर्वाकोव को लिखा था "समाजवादी यथार्थवाद का लक्ष्य होता है "पुरानी दुनिया" के अवशेषों से, उसके घातक प्रभाव से लड़ना और उस प्रभाव को उन्मूलित करना ।.पर इसका मुख्य कार्य है जीवन के प्रति समाजवादी क्रांतिकारी अभिवृत्ति और दृष्टिकोण को उद्दीप्त करना ।"

सार्वभौमिक रूप से गोर्की के अनेक वक्तव्य अतीत के दोषों तथा नये की सृष्टि दोनों पक्षों के सम्बन्ध में उसके सक्रिय सामाजिक और सौन्दर्यात्मक स्वरूप पर अनन्यतः जोर देते हैं । गोर्की का विश्वास था कि ये दोनों तत्व सहयोगी तत्व हैं, परन्तु समाजवादी यथार्थवाद के रचनाकार का ध्यान मुख्यतः नवीन की ओर और उस नवीन के रूपायित और विकसित होने की पद्धति की ओर आकृष्ट करना आवश्यक है । गोर्की का विचार था कि नये साहित्य का विकास निस्संदेह उस समाजवादी अनुभव पर आधारित है जो उसे उद्दीप्त करता है । उनका स्पष्ट विचार था कि समाजवादी अनुभव और भविष्य को महान लक्ष्यों की प्रेरणा से प्रसूत एक उदात्त दृष्टिकोण समाजवादी यथार्थवाद का अखण्ड उपादान है और इसी से उसका आन्तरिक सर्जनात्मक दिशा बोध पैदा होता है ।

गोर्की के सम्पूर्ण कृतित्व में 'मां' का स्थान शीर्ष है । इसमें वे शक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को समझने में अधिक सफल हुए हैं, 'मां' में संघर्ष व्यक्तियों के अपने अधिकार सिद्ध करने के आग्रह से प्रेरित नहीं है, बल्कि वह वर्गों के जीवन व्यापक आदर्शों को स्थापित करने और अधिकारों को प्राप्त करने का महान संघर्ष हो गया है । यहाँ सामाजिक-अत्याचार के विरुद्ध नारा उठाने वाला एक ही आदर्श व्यक्ति नहीं है । सम्पूर्ण निम्नवर्ग सामूहिक रूप से जागृत होकर अपने अधिकारों को हस्तगत करने का संगठित प्रयत्न करता दिखाई पड़ता है । गोर्की ने पहले पहल जीर्ण जर्जरित होते हुए बुर्जुआ समाज और अपनी दीर्घकालीन निद्रा से उठकर अंगड़ाई लेते हुए, अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होने वाले सर्वहारा वर्ग को उपन्यास का आधार बनाया । वे साम्यवादी समाज का चित्रण तो नहीं कर सके पर उन्होंने सर्वहारा वर्ग की जागृति और साम्यवादोन्मुख प्रवृत्तिया को दिखाया मा का महत्व वर्ग सघर्ष और श्रमिक वर्ग की विजय का

इतिहास होने में नहीं है, इससे बढ़कर वह मानव जाति के नये मानव के निर्माण का क्रान्तिकारी इतिहास भी प्रस्तुत करता है । अन्धकार से निकल कर प्रकाश की ओर भाग्य के भरोसे छोड़कर आत्मविश्वास की ओर विवशता, दुर्वलता और मानसिक पराधीनता की लौह श्रृंखलाओं को तोड़कर स्वच्छन्द वातावरण की ओर आनेवाली एक जनता की मानसिक दशाओं के परिवर्तन का अध्ययन भी माँ में है। ताल्सताय और तुर्ग नेव के क्रान्तिकारी व्यक्तिमात्र थे और उनकी आकांक्षाएं बहुत सीमिक थी। गोर्की का क्रान्तिकारी सम्पूर्ण श्रमिक वर्ग है । उनका स्वप्न है संसार के सबसे उज्वल जनतंत्र की स्थापना का ।

समाजवादी यथार्थवाद की प्रायः सभी विशेषताएँ मॉ में हैं । समाजवादीन्मुख प्रयत्न मे लीन जनता उसका विरोध करने वाली प्रतिक्रिया शक्तियॉ, उज्ववल भविष्य का आशावादी स्वप्न, अपनी अपार शक्ति पर अटल विश्वास इन सबका यथार्थ चित्रण गोर्की ने किया है । आर्तमनोव 'फोमागोर्दयेव आदि में एक सुषुप्त शक्ति के रूप में जिस जनता को प्रस्तुत किया गया है, वह यहाँ सामूहिक रूप में नायक का स्थान लेती है ।

गोर्की यद्यपि समाज की दुर्वृत्तियों से अवगत थे तथापि फ्रें च प्रकृतिवादियो के समान उनकी व्याख्या करने नहीं वैठे । 'आर्तमनोव' आदि में एक दो दृश्य समाज की उच्छृंखलता दिखाने वाले हैं । ये दृश्य भी व्यंग्य के समान ही प्रयुक्त है । 'मा' मे गोर्की बहुत संयत रहे हैं और आदर्शवादी से लगते हैं । उन्होंने स्वयं माना है कि साहित्य का ध्येय यथार्थ से ऊपर उठकर हृदय की अभिलाषाओं को भी प्रकट करता है, परन्तु उन्होंने इस वात पर भी ध्यान दिया है कि हमारी शक्ति द्वारा प्राप्य सिद्धि की परिमिति का भी विचार करना चाहिए ।[७]

[तीन]

इसलिए गोर्की की रचना प्रक्रिया का एक छोर सामाजिक यथार्थ है दूसरा छोर सामाजिक आदर्श और तीसरा छोर कलात्मक अभिव्यक्ति । उनके लिए साहित्यिक प्रक्रिया ऐसी सामाजिक सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया है जो तभी विकसित होती है जब उसके लिए सामाजिक आवश्यकता होती है । और विषय वस्तु (कन्टेन्ट) का अनुकूल मूर्त आयतन ही 'रूप (फॉर्म) है ।

रूप की दृष्टि से गोर्की ने सभी साहित्यिक विधाओं का प्रयोग किया है, और बहुत अंशों तक वे सफल भी हैं, उन्होंने केवल यथार्थ वर्णन-सोवियत यथार्थ वर्णन, प्रकृति, चरित्र, कथा, प्रचार तथा क्रान्तिकारी भावना का वर्णन ही नही, वरन् पुरानी में से नई कला का सृजन भी किया है । क्रान्ति के पश्चात् गोर्की ने साहित्य का बहुपक्ष देखा । उसने भटके हुए लोगों को इकट्ठा किया, अज्ञात-पूर्व कवियों को प्रतिष्ठा दिलाई लेखक संघ का निर्माण किया और सम्पादन के विराट कार्य को हाथ में ले लिया । रोम्यां रोला ने शायद इसी ओर संकेत करते हुए लिखा था अन्य किसी बड़े लेखक ने इतनी महान भूमिका का निर्वाह नही किया गोर्की सोवियत सघ मे साहित्य कला और विज्ञान के सर्वोच्च पथ प्रदर्शक

और उसकी गतिविधि के निर्देशक थे । वह उनके जौ भर भी इधर-उधर न होने देने वाले गुरु भी थे ।"

[चार]

लोक कलाओं का एक 'दानव मिथक' मुझे याद आता है, जो सामने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कुचल डालता था । यह उसे वरदान था । परन्तु जव लोक प्रिय कथानायक उसे विजित करने गया तो पेड़ के ऊपर से कूदकर उसके कन्धों पर सवार हो गया । तव से वह दानव लगातार उसे कन्धों पर वैठाए ही चलता रहा। लगता है यह दानव काल है जो प्रत्येक कृति को विस्मृत कर देता है, परन्तु जो कृति, या कलाकार काल की पीठ पर चढ़कर अनन्त की यात्रा करता है, काल उसे अमरत्व प्रदान करता है ।

गोर्की के कृतित्व में कुछ ऐसे मूल तत्व हैं जो उसे कालजयी बनाते है -

[अ] गोर्की के उपन्यास मानव जीवन के महाभाष्य हैं । इनमें स्वानुभूतिपूर्ण तात्विक दर्शन के द्वारा जीवन का विश्लेषण किया गया है । इनसे अधिक विस्तृत क्षेत्रों की व्याख्या करने वाले और इनसे अधिक अगाध तथा कलात्मक उपन्यास कई मिलते हैं परन्तु गोर्की की विशेषता यह है कि उसने मानव की मानवता का विश्लेपण किया है । लाखों वर्षो के निरन्तर विकास के परिणाम स्वरूप वर्तमान सभ्य दशा तक पहुँचते हुए मनुष्य में जो उदात्तता और जो पाशविकता आज भी काम कर रही है, उसमें निश्चित ही असीम शक्तियाँ हैं । इन विरोधी शक्तियो का संघर्ष ही मनुष्य के विकास की मुख्य प्रेरणा है ।

[ब] उसकी रचनाओं में जीवन पर आसक्त करने वाली जो चीज मिलती है वह है उसकी हार्दिक अनुभूति उसके लिए जीवन केवल अध्ययन का विषय नहीं, अनुभव और अनुभूति का विषय रहा है । जहाँ-जहाँ लेखक पात्रों से तादात्म्य पाकर उनके भावों में अपने भावों को मिला देता है और हृदय की वाणी को उन्मुक्त करता है वहाँ उपन्यास के सबसे मार्मिक प्रसंग मिलते हैं । ऐसी सहानुभूतिपूर्ण रचना निश्चित ही हृदय के तरल विकारों को तरंगित करती है ।

[स] उपन्यास के स्थायी मूल्य का एक और कारण उसमें समाविष्ट यथार्थ सामाजिक जीवन का इतिहास होता है । किसी विशेष समय के और किसी विशेष समाज के सामान्य स्वभावों को रेखाबद्ध करने वाले उपन्यास समाजशास्त्र की दृष्टि से महान हो जाते हैं । तुर्गनेव, गाल्सवर्दी, प्रूस्त आदि के उपन्यास इसीलिए महान हैं । गोर्की के उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं का विशेष स्थान न होने पर भी ये इतिहास से अधिक सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेपण करते हैं क्योंकि इनमे समाज की आन्तरिक सत्ता का इतिहास निहित रहता है ।

[द] गोर्की ने अपनी इच्छानुसार जीवन के छोटे-वड़े अंश को लिया है, परन्तु जिस विषय को भी उन्होंने उठाया है, उसे पूर्णतया स्पष्ट और सजीव बनाया है उनकी रचनाओं में जीवन निर्जीव रेखाओं द्वारा अंकित नहीं है वल्कि सजीव रूप मे व्यजित किया गया है उनमे मार्मिकता की कमी का अनुभव नही होता

[ई] उपर्युक्त सभी बातों का वास्तविक आधार यह है कि सभी उत्कृष्ठ रचनाओं की समूची श्रेष्ठ प्रवृत्तियाँ लेखक के हृदय से निकलती हैं । जैसे बिजली, बिजली घर से निकल कर तारों द्वारा विभिन्न दिशाओं की ओर प्रयाण कर एक विशाल क्षेत्र में प्रकाश फैलाती हैं उसी प्रकार लेखक के हृदय के शक्तिकेन्द्र से निकलने वाली अपार शक्ति ही उसके कृतित्व में प्राण संचार करती है । गोर्की का सम्पूर्ण कृतित्व इसी प्रेरणा शक्ति से निसृत है इसीलिए अमरत्व प्राप्त कर सका है । उनके सिद्धांत मात्र सिद्धांत न रह कर जीवन दर्शन बन जाते हैं, जीवन दर्शन प्राणो मे समाहित हो जाता है, प्राण लोक जीवन में लय हो सम-अनुभूति से स्रवित होते है- और वही स्रवण कलात्मक, रचनात्मक, सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया में ढल कर उनका कृतित्व बन जाता है ।

[पाँच]

विश्व के अन्य साहित्यों की भांति भारतीय साहित्य पर भी गोर्की का समानुवर्त्ती प्रभाव पड़ा है । हिन्दी साहित्य पर यह प्रभाव प्रेमचन्द में अधिक मुखर हो उठता है । प्रेमचन्द गोर्की के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों से प्रभावित थे और तुलनात्मक रूप से उनका नाम गोर्की के साथ लिया भी जाता है मुख्य रूप से दोनो की समसामायिक चेतना एवं दर्शन के कारण । प्रेमचन्द के परवर्त्ती काल में यद्यपि 'प्र ातिशील लेखक संघ' का निर्माण हुआ परन्तु वहाँ गोर्की का सैद्धांतिक अनुकरण ही अधिक हुआ है और वह भी सौन्दर्य के सृजनात्मक सिद्धान्तों के खिलाफ । इस सम्बन्ध में श्री भारत भूषण अग्रवाल ने एक बड़ा रोचक संस्करण दिया है -

''उन दिनों प्रगतिशील आंदोलन कुत्सित समाजशास्त्रीयता के स्तर पर जा पहुचा था और विद्रोह के नाम पर कला कृतियों में प्रेम के चित्रण को निन्दनीय माना जाने लगा था । उनके दृष्टिकोण को सुधार कर स्वस्थ बनाने के उद्देश्य से चौहान [शिवदानसिंह चौहान] ने एक बार संघ की बैठक में एक हिन्दी कविता पढ़कर सुनाई फिर प्रत्येक साथी से बारी-बारी से उस कविता पर अपनी सम्मति व्यक्त करने को कहा । कविता प्रेम की थी अतः अधिकांश साथियों ने उसे प्रतिक्रियावादी और घटिया सिद्ध किया । सबके बोल चुकने पर चौहान ने अपने श्रोताओं को चकित करते हुए सूचना दी कि वह हिन्दी कविता वस्तुतः गोर्की की एक कविता का अविकल अनुवाद थी यह सुनकर उपस्थित साथियों पर जैसे गाज गिर पड़ी ।''

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक बार फिर गोर्की के प्रति हिन्दी जगत की आत्मीयता दीख पड़ती है । इस संबंध में रांगेय राघव और धर्मवीर भारती के नाम उल्लेखनीय हैं । रांगेयराघव में वैसी ही निर्भीकता, जनसाधारण से वैसा ही अभिन्न सम्बन्ध और अन्याय के प्रति वैसा ही अधीर विद्रोह दिखाई पड़ता है । भारती की उपन्यास कृति 'सूरज का सातवां घोडा' में समाज के उपेक्षितों-पीड़ितों के प्रति उनकी उन्मुक्त करुणा दिखाइ पडती है

इस प्रकार गोर्की ने आधुनिक साहित्य की तीन पीढ़ियों को प्रभावित किया है । आज के नवीन साहित्य में भी उनके दो गुण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं एक तो निर्भीकता और दूसरा अनुभूति की प्रामाणिकता, जो किसी भी साहित्य के प्रकाश स्तभ के समान है ।

अपनी मनुष्य नामक कविता में गोर्की ने मनुष्य का चित्र जिन शब्दो मे अकित किया है हम उन्हीं शब्दों में गोर्की का स्मरण करना चाहेंगे ।

"वह गर्व से सिर उठाए, गौरव और स्वतन्त्रता की मूर्ति, आगे बढ़ता चला जा रहा है । उसकी चाल धीमी किन्तु स्थिर है, पुराने अंधविश्वासों की धूल उसके पैरों में लोट रही है । अकेला, वह भूलों और त्रुटियों के धुंधलके में से अपना रास्ता खोजता हुआ चला जा रहा है । उसकी पीठ के पीछे अतीत के बादल घुमड़ रहे हे, और उसके सामने विकट समस्याओं के जाल बिछे हैं । . . . . आकाश के असीम विस्तार में टिमटिमाते तारों की भाँति उसकी समस्याएँ भी और असंख्य हैं । परन्तु उसकी यात्रा का कोई अन्त नहीं है . . . . यह बेचैन प्राणी यह मानव (कलाकार) सदैव बढ़ता चला जायेगा, आगे ही आगे, सदैव उन्नति और उत्थान के पथ पर ।"

सन्दर्भ

1- रूस्कया सवेत्स्कया लितेरा तूरा ल० इ० तिमोफेयेव
2- Gorky: on Literature p. 264.
3- Socialist Realism concerns itself with the aims, qualities and manifestations of socialist society as it exist and as it is in the making -**Reavey : Soviet Literature Today - P. 20**
4- Socialist Realision in literature appear only as reflection of the facts of socialist creative activities as-they exist in actual practice." **Gorky - Literature and life, P 144**
5- We set out from real, active men; and on the basis of the ideological reflexes and echoes of this life process.
-Marx & Engels : The German Ideology, quoted in Literature and Art, P.P. 11.
6- "I am not a naturalist. I want literature to rise above reality and to look down on reality from above because literature has a great perpose than merely to reflect reality. It is not enough merely to depict already existing things we must also bear in mind the things we desire and things are possible of achievement." **-Gorky : Literature & Life. P. 145**

◆ ◆ ◆

भारतीय रंगमंच की परम्परा

प्रागैतिहासिक युग-मानव की आदिम अवस्था । प्रकृति के रंगमंच का प्रथम दृश्य ।

अन्य कलाओं की भाँति नाट्य का जन्म भी आदिम युग के अनुष्ठानों मे निहित है । आदिम अनुष्ठान एक ऐसी इकाई है जिसमें धार्मिकता, नृत्यगीत और जादू सब अनिवार्य रूप से मिले जुले रहते हैं । वैसे भी अभिव्यक्ति की भावना मनुष्य की सर्वप्रमुख मूल प्रवृत्ति है और इस दृष्टि से मानव इतिहास के साथ ही नाट्य का इतिहास भी जुड़ा हुआ है ।

मनुष्य की मूल प्रवृत्ति नृत्य गीतात्मक हैं । आदिम मनुष्य चाहे जहाँ रहा हो, उसका जन्म स्थान चाहे जो है, परन्तु नृत्यगीत उसके जीवन के अभिन्न अग रहे हैं, जर्मन विद्वान विल्हम वुंटे का कथन है कि आदिम युग में नृत्य ही मनुष्य की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन था । हाथों, पैरां, कलाइयों और कटि की विविध गतियों से जैसे उसके मनोभावों की अभिव्यक्ति के सहज प्रसव के लिए द्वार सा खुल जाता है ।

आदिम मनुष्य को यह नृत्य-नीति किसी से सीखने की आवश्यकता नहीं थी । वह जन्म से ही लयात्मक रहा है । जितनी ही तीव्र उसकी भावना होगी, उतनी ही तीब्र लय में वह अभिव्यक्ति पाती है । बजते हुए ढोल, उसकी लय पर निरन्तर गति से थिरकते हुए पगों की गति जैसे उसके अपने हृदय की गति पर ही आधारित्त है ।[१]

(१) ये नृत्यगीत मूल में धार्मिक थे । वे अपने देवी देवताओं की पूजा इसी प्रकार के नृत्य गीतों द्वारा सम्पन्न करते थे । इसका अवशेष आज भी यात्रा नाट्यों में देखा जा सकता है । विद्वानों का विचार है, वैदिक युग में भी इस प्रकार के यात्रा नाट्य प्रचलित थे । ये गीत सम्भवत: संवादों के रूप में प्रयुक्त होते रहे होगे, यद्यपि नृत्य का समावेश वहुत बाद की चीज है ।[२]

(२) मूल रूप में आदिम गीत नृत्य प्रकृति की अनुकृति थे । प्रारम्भ मे वही मनुष्य की हर इच्छा पूर्ति का मात्र साधन थे ।[३]

उदाहरण के लिए हवाई द्वीप के लोकनृत्यों को लिया जा सकता है, जिनमे नितम्वों की गति लहराती हुई तथा कलाइयाँ ऊर्ध्वमुखी रहती हैं । वहाँ के लोक जीवन में नितम्बों की गति लहराते हुए पाम वृक्षों से ग्रहण की है, और कलाइया की गति लहराते हुए समुद्र से जो उस द्वीप को चारों ओर मे घे हुए है भारतीय नृत्यो पर भी प्रकृति का पयाप्त प्रभाव लक्षित होता है ऋ ओं के अनुसार तथा

प्रकृति के सौन्दर्य से सजे रंगों से मिलता-जुलता परिधान धारण कर, मन के भावो को प्रकृति के अनुरूप ढालते हुए नृत्य के प्रतीक आज भी उपलब्ध होते हैं ।

मुद्राओं की बनावट तथा नामों से पता चलता है कि इनका विकास अत्यन्त प्राचीन काल में पशु-पक्षियों तथा विशेष वस्तुओं की नकल करने से हुआ। जैसे पताका, कपोत, कर्त्तरीमुख आदि की मुद्रायें ।[४] विद्वानों ने कुछ वैदिक ऋचाओं को अभिनेय माना ही है उन्हें प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का प्रतीक भी माना हे । उनके विचार से इंद्र और वृत्त के युद्ध का अभिनय सोम अनुठान के समय किया जाता था, जिसमें इंद्र विजय प्राप्त करते हैं । इन्द्र की विजय वस्तुतः नये वर्ष अथवा वसन्त का प्रतीक है ।[५] महाभारत के आधार पर कीथ ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार रखे हैं । एक अनुष्ठान में एक वैश्य, जो गौर वर्ण होता है, एक शूद्र को युद्ध में पराजित करता है । जो कृष्णवर्णी होता है । कीथ का विचार है कि यह विजय वस्तुतः शीतमय अंधकार पर सूर्य की विजय है, कारण आर्य सूर्य के उपासक थे ।[६]

महाभारत में कंसवध का उल्लेख मिलता,जिसका प्रदर्शन नट अपने मुखो को रंगकर करते थे । कंस का मुख काला तथा कृष्ण का मुख लाल होता था । विद्वानों ने उसे भी ग्रीष्म और शरद् का प्रतीक माना है ।[७]

आदिम अनुष्ठानों में सादृश्यक जादू अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था । यदि वर्षा के समान ध्वनि की जाये तो वर्षा होगी, यदि पशु चर्म पहना जाये तो उसके शिकार में सफलता मिलेगी । सादृश्य से सादृश्य उत्पन्न होता है यह आदिम मनुष्य का सहज तर्क रहा है । इसका प्रभाव नृत्य गीतों, और इसलिए नाट्य पर भी पड़ा है ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं की व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है । उदाहरण के लिये ऋचा (vii 103) मेढक का मास्क पहनकर गाई जाती थी और यह विश्वास किया जाता था कि इससे वर्षा होगी ।[८] इसी प्रकार महाभारत के एक गोलाकार स्त्रियों के नृत्य के विषय में जो अग्नि के चारों तरफ होता था - यह कहा जाता है, कि इससे फसलें अच्छी होती हैं, और सुख समृद्धि उत्पन्न होती है ।[९]

इसी प्रकार आदिम ग्रीक लोगों को विश्वास था कि बीज को जितना अधिक उछाला जाएगा, उतनी ही ऊँची फसल उगेगी । फलस्वरूप वे कृषि नृत्य के समय ऊँची-ऊँची उछालें भरते थे । यही कारण है कि आधुनिक बैल नृत्यो मे भी ऊँची उछालों का विशेष महत्व है ।[१०] आसाम का लोक नृत्य 'शिकारी' भी इसी तथ्य से प्रभावित है जहाँ विविध जानवरों की खाल एवं सींग पहनकर पशुओं के शिकार का अभिनय किया जाता है ।

(४) प्रागैतिहासिक नाट्यो में मास्क का प्रयोग भी अनिवार्य रूप से होता था, जिसके मूल में भी अनेक विश्वासों का संयोजन था[११]

(५) मास्क का प्रयोग सादृजक जादू के रूप में होता था । ऐसा विश्वास किया जाता था कि जो मास्क नर्तक पहने हे उसकी शक्ति का उसमे निवास है

(६) मास्क का प्रयोग शिकार के अनुष्ठानों के लिये भी किया जाता था। भेडिये का मास्क धारण करने वाला नर्तक उसके शिकार में सफलता पाता है'ऐसा उनका विश्वास था ।

(७) युद्ध नृत्यों के लिये भी मास्क उपयोगी था (hideous mask) धारण कर अग्नि के चारों ओर नृत्य करने से शत्रु चाहे मीलों दूर हो, उस भाव का अनुभव करते हैं ।

भारतीय नाट्यों में भी मास्क का प्रयोग सदा से होता आया है । द्रविड सभ्यता के जो अवशेष सिंध की उपात्यका में मिले हैं, उनमें कुछ मुँह पर लगाने के मिट्टी के चेहरे भी मिले हैं जो मनुष्य के आकार के हैं, परन्तु उनके सिर पर सीग वर्तमान हैं । एक वैल की सींग की भांति है, तथा दूसरे के मेढ़े के सीग की भाँति। [१३] संभव है इनका प्रयोग नृत्य नाट्यों में होता रहा है । भारत के नाट्यशास्त्र मे भी एक प्रकार के मास्क का वर्णन है जिसे 'प्रति शीर्षक' संज्ञा दी गई । वेल के गोद से कपड़े की पटी आवश्यकतानुसार लम्बी तैयार की जाती थी । फिर भस्म तथा तुष में गोंद मिलाकर प्रति शीर्षक तैयार कर उनको गाँढ़े बेल के गोंद में डूबे हुए कपड़े से लपेटा जाता था । ये पटी न तो वहुत मोटी होनी चाहिये न पतली न नरम । इनके खुदाने के बाद नियमानुसार नापकर वरावर दो भागों में बांट कर तेज औजार से इनमें छेद करना चाहिए । फिर चेहरे पर मस्तक कपोल कान मुख के लिये विवर छोड़ देने चाहिए । इन पर अनेक प्रकार के चेहरे चित्रित तथा अलंकृत किये जाते हैं । [१४]

पहले दक्षिण भारतीय नृत्य नाट्यों में भी मास्क का प्रयोग होता था, परन्तु वाद में वेत्तत स्वरूपम् के राजकुमार ने मास्कों का प्रयोग अस्वीकार कर दिया, कारण इनसे भाव प्रदर्शन में असुविधा होती थी । परन्तु अव भी चेहरे का श्रृंगार मास्क पद्धति पर ही होता है । [१५] बंगाल में अब भी गंभीरा में अनेक प्रकार के मास्को का प्रयोग होता है । जिनमें शिव, हनुमान, दुर्गा आदि के मास्क प्रमुख हैं । [१६] श्री वी० के० कराकर ने इनकी विस्तार से व्याख्या की है एवं अनेकों तर्क संगत परिणाम निकाले हैं । [१७]

इस प्रकार आदियुगीन ये नृत्य नाट्य मुख्यतः चार प्रकार के होते थे -

(अ) युद्ध नृत्य नाट्य

(व) प्रेम नृत्य

(स) अहेर नृत्य नाट्य

(द) कृषि नृत्य नाट्य

(य) ऋतु नृत्य नाट्य

वैदिक युग में नाटक किस रूप में था, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । शुक्लयजुर्वेद की वजसनेय संहिता के तीसवें अध्याय में शैलूप जाति का अस्तित्व प्राप्त होता है [१८] इस आधार पर कुछ विद्वानों का कथन है कि वैदिक

युग तक नाटक अपने पूर्ण रूप को प्राप्त कर चुका था । इसके विपरीत कुछ विद्वानो का विचार है कि वैदिक काल में नाटक के मौलिक तत्त्व विद्यमान थे तथापि उसका कोई प्रमाण नहीं है कि उस काल में लोग नाटक के प्रारम्भिक रूप से अभिज्ञ थे, न तो नाटक के पात्रों का वर्णन मिलता है न ही नाटक सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का ही उल्लेख है । संभव है कि नाटकीय धार्मिक उत्सवों में उस नाट्य कला का सम्बन्ध रहा हो, जो अभी गर्भस्थ शिशु सदृश प्रकट नहीं हुई थीं ।[१८]

वैदिक संवादों[१९] को लेकर भी काफी वाद-विवाद हुआ है । मैक्समूलर का विचार है कि इन्द्र और मरुत की ऋचाओं का अभिनय दो पक्ष करते थे, और इन ऋचाओं को परस्पर संवाद के रूप में प्रयोग करते थे ।[२०] प्रो- सैलवेन लेवी का भी यही विचार है, जिसका आधार उन्होंने आर्यों की नृत्य गीत सम्बन्धी पूर्णता बताई है ।[२१]

प्रो० विन्डश, ओल्डेन वर्ग का कथन है कि ये संवाद गद्य पद्यात्मक थे । पद्यभाग भाव प्रदर्शन का साधन होने से सावधानी से सुरक्षित रहे, किन्तु गद्याश श्रृखलात्मक होने के कारण लुप्त हो गया ।[२२]

प्राय: कात्यायन श्रौतसूत्र के सोमयाग नामक यज्ञ क्रिया को नाट्य का मूल रूप माना जाता है[२३] सोम बेचने वाले वनवासियों के साथ यजमान सोम विक्रेता और ऊर्ध्व का संवाद अभिनय का सूचक प्रतीत होता है ।

"सोम विक्रयी-सोमराजा बेचोगे ?"

"विकेगा।"

"तो लिया जाएगा ।"

"गौ की एक कला से उसे लूँगा ।"

"सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य है ।"

"गौ भी कम महिमा वाली नहीं है । इसमें मट्ठा, दूध, घी सव है ।"

"अच्छा आठवाँ भाग ले लो ।"

"नहीं सोमराजा अधिक मूल्यवान है ।"

"तो चौथाई ले लो ।"

"नहीं और मूल्य चाहिये ।"

"अच्छा पूरी गौ ले लो भाई ।"

"तव सोम राजा विक गये । परन्तु और क्या दोगे ? सोम का मूल्य समझकर कुछ और दो ।"

"स्वर्ण लो, कपड़े लो, गाय के जोड़े, वछड़े वाली गौ, जो ना हो सव दिया जाएगा ।"

(यह मानो मूल्य से अधिक चाहने वाले को भुलावा देने के लिए अध्वर्यु कहता है

परन्तु जब सोम विक्रेता अपना सोम बेचने को प्रस्तुत हो जाता है, तब स्वर्ण दिखाकर उसके हृदय में तृष्णा उत्पन्न करके उसे निराश किया जाता । इस अभिनय का प्रदर्शन किंचित काल तक चलता रहता । "संमेत इति सोमविक्रयिण हिरण्येनाभि कम्पयति ।" हिरण्यं दत्त्वा स्वीकुर्वतस्तं निराशं कुर्यात" का उद्धरण सूत्र की टीका में मिलता है । इस प्रकार सोम पुत्र कर्त्ता सोम विक्रेता को छकाकर स्वर्ण यजमान को सौंप देता, और सोम का मूल्य उसे अनुमानतः एक बकरी दी जाती । अनुमानतः उसे स्वर्ण भी दे दिया जाता । तदुपरांत विक्रेता यजमान के कपड़ों पर स्वर्ण डाल देता । सोम का स्वर्ण हो जाने पर यजमान जप करने लगता । ऐसा प्रतीत होता है कि सोम के झगड़े से उसका कोई अभिप्राय : ही न हो । सहमा परिवर्तन होता 'हिरण्यं सहसाड इच्छित्यपृषता बस्ताकांडेना हन्तिवा" सोम विक्रेता से स्वर्ण छीनकर उस पर कोड़े से प्रहार किया जाता और वह भाग जाता । तत्पश्चात सोमराजा को गाडी में बिठा कर इसकी परिक्रमा कराई जाती । तदुपरान्त इन्द्र का आह्वान किया जाता तो सोमरस के रसिक, आनन्द तथा उल्लास के रूप माने जाते[२४] थे ।

द्वितीय, अंक पुष्ट और उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है । इस युग में नाटक सम्बन्धी उल्लेखकों के अतिरिक्त वे नाटक भी रचे गए जो विश्व में अपरिमेय है ।

महाभारत में (ई० पू० २०० दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है - रामामय नाटक, कौबेररम्भारिसार नाटक । हरिवंश पर्व[२५] में प्रद्युम्न विवाह का प्रकरण आता है जिसके अनुसार वज्रनाम राक्षस ने घोर तप कर शंकर से किसी देवता द्वारा न मर सकने का वरदान प्राप्त किया । वरदान पाकर वह इन्द्र से युद्ध करने पहुँचा, इन्द्र ने कृष्ण से सहायता माँगी । उस समय वासुदेव का अश्वमेघ यज्ञ हो रहा था, जिसमें भद्र नामक चतुर नट भी था । उसने कौशलपूर्वक वज्रनाम की पुत्री प्रभावती का श्रोतानुराग प्रद्युम्न की ओर उन्मुख कर दिया । स्वयं प्रद्युम्न, भद्रनट तथा अन्य साथियों के साथ वज्रनाम नगरी गए । प्रद्युम्न नायक बने, मद परिपार्श्वक बने और साम्ब नामक यादव विदूषक बना । कई यादव नटी बनकर साथ-साथ गए। इस नाट्य मंडली ने रामायण नामक नाटक अभिनीत किया । सूचना पाकर वज्रनाभ ने अपने यहाँ इस मण्डली को आमन्त्रित किया, जहाँ गंगावतरण तथा कौवे-रम्भाभिसार नाटक हुआ । शूर ने रावण का अभिनय किया, साम्ब ने विभीषण का और मनोवती ने रम्भा का रूप धारण किया । दानव मुग्ध हो गए । इसी बीच वज्रनाम का वध तथा प्रभावती का विवाह करा दिया गया ।[२६]

वाल्मीकि रामायण (ई० पू० ५००) में राम के राज्याभिषेक के समय नटो नर्तकों और गायकों का उल्लेख किया गया है ।[२७]

नट नर्त्तकों के संघ थे, जिनसे जनता अपना मनोरंजन करती थी । श्री किशोरीदास वाजपेयी का तो अनुमान है कि वाल्मीकि ने रामायण नामक नाटक की ही रचना की थी, जो अब प्राप्त नहीं है" जब वाल्मीकि ने रामायण नामक अभिनय काव्य की रचना कर ली तब उनकी तीव्र इच्छा हुई कि इसका प्रयोग अच्छे कुशीलवों द्वारा होना चाहिए [illegible]न्होंने सोचा इतने [illegible]त्कृष्ट काव्य का प्रयोग [illegible] ?

चिन्तयामास कोन्वेतन्

प्रभुञ्जीयादिति प्रभुः ।

इसी समय दो वहुत अच्छे कुशीलव उनके पास पहुँचे, उन्हें चतुर जानकर मुनि ने अपनी रचना उन्हें दे दी -

तावग्राह्यत्प्रभुः

कुशीलकों ने वहीं उसका प्रयोग किया, जिससे प्रसन्न हो मुनियों ने उन्हे वन्य उपहार दिए । इसके पश्चात् उन्होंने इसका प्रदर्शन राम की परिषद में किया, जिससे स्वयं राम भी अत्यन्त प्रसन्न हुए -

स चाअपि रामः

परिषद गतः शनैः

बुभूषयासक्तमना बभूव ।"[२८]

समाज शब्द का प्रयोग भी नाटक के अर्थ में हुआ है । समाज प्राय सरस्वती भवन में हुआ करते थे ।[२९] ये पक्ष या महीनों के प्रसिद्ध पर्वों के अवसर पर राजा की ओर से नियुक्त नटों का अभिनय होता था, जिन्हें उत्सव कहा जाता था। वे समाज सम्भवतः वे ही हैं जिनके विषय में अशोक के अभिलेख में लिखा है कि समाज बहुत उच्छृंखल हो गए थे, तथा इनसे हानि की सम्भावना थी ।[३०] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि ये उत्सव अन्य मन्दिरों में भी होते होंगे, इसके अतिरिक्त अन्य पारिवारिक उत्सवों पर भी नाटकों का आयोजन होता था ।[३१]

बौद्ध निकायों में भी हमें नट तथा नट्टगामी शब्द मिलते हैं ।[३२] विनयपिटक के चुल्लबाग में यह कथा मिलती है कि अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु एक बार कीतागिरि की रंगशाला में अभिनय देखने गये । नाटक की समाप्ति पर वे दोनों संघाटी फैलाकर नाचने वाली नर्तकी के साथ मधुर अलाप करते रहे । इसकी सूचना जब बिहार के महास्थविक के पास पहुँची, तो उन्होंने उन दोनो भिक्षुओं को विहार से निर्वासित कर दिया[३३] पातंजलि[३४] के महाभाष्य में कंस वध और बलि वध नाटकों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है ।[३५]

जैनों के रायपसेणिय सुत्त (ई० पू० ५वीं शती के बाद से ई० के ५ वी शती तक) में उल्लिखित है कि नाट्य भवन को पेच्छाघर मण्डप कहते थे । इस घर में कई वेदियाँ होती थी, तथा यह अनेकों खम्भों तथा अर्धचन्द्राकार तोरणो से सुशोभित होता था । जिन पर शाल भञ्जिकायें 'तथा ईहामृग' बनाकर लगाये जाते थे । इस प्रकार के भवनों की दीवाल सुन्दर चिकनी बनाई जाती थी, जिन पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती थी । छत पर कमल तथा लताओं की आकृतियॉ वनाई जाती थी । रंगद्वार पर तोरण बनाये जाते थे तथा दोनों ओर चन्दन से सुगन्धित जल भरे हुए घट रखे जाते थे । रंगमंच समक्ष रंगीन पर्दे डाले जाते थे, जिनमें घण्टियाँ लटकी रहती थीं, जिससे पर्दा खोलते समय वे बज उठे। रगमच को कहते थे यह नाटय मण्डप के बीच मे स्थित रहता था

उसमें बहुत से यंत्र लगे रहते थे, जो विद्याधरों इत्यादि को दिखाने के कार्य में प्रयुक्त होते थे । इस रंगमंच के बीच एक सिंहासन रहता था ।[३६]

कोटिल्य के अर्थशास्त्र में षाड्गुण्य नामक अधिकार में शत्रु के पास से राजकुमारों को छुड़ा लाने के उपायों के निर्देश में नटों नर्त्तकों, गायकों तथा अभिनेताओं को शत्रु के राज्य में भेजने का निर्देश किया है । इनका वेतन ३५०-७८० पण तक होता था । उस समय नाट्य शालाएँ भी बनवाई जाती थीं ।[३७]

श्रीमद्भागवत् (चौथी शताब्दी) में गोपियों के कृष्ण की विविध लीलाओं के अनुकरण करने का उल्लेख मिलता है । "गोपियाँ, वृक्षों, पुष्पों, तुलसी, पृथ्वी आदि से भगवान का पता पूछने पूछते कातर हो गई । वे गाढ़ आवेग में आ जाने के कारण भगवान की विभिन्न लीलाओं का अनुकरण करने लगी ।[३७] एक पूतना बन गई, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तन पीने लगी कोई छकड़ा बन गई तो किसी ने बालकृष्ण बन कर रोते हुए उसे पैर की ठोकर मारकर उलट दिया । कोई सखी बालकृष्ण बनकर बैठ गई तो कोई त्रणावर्त्त दैत्य का रूप धारण कर उसे हर ले गई । एक बनी कृष्ण, दूसरी बनी बलराम और बहुत सी गोपियाँ ग्वाल-बालों के रूप में हो गई । एक गोपी बन गई वत्सासुर तो दूसरी बनी बकासुर । तब तो गोपियों ने अलग अलग श्रीकृष्ण बनकर वत्सासुर और बकासुर बनी हुई गोपियो को मारने की लीला की ।[३८]

ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे टोस प्रमाण सीतावोंगा जोगीमारा (अशोक कालीन) की गुफा हैं । ये गुफाएँ सरगुजा राज्य के अन्तर्गत विन्ध्य प्रदेश में हैं ।[३६]

जोगीमारा की गुफा में जो लेख प्राप्त हुआ है, वह अशोक के समय की ब्राह्मी में लिखा हुआ है ।[४०] सीतावेंगा गुफा का लेख कुछ ही बाद का ज्ञात होता है। जोगीमारा गुफा के लेख से यह पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नाम की देवदासी ने नर्तकी अथवा नटियों के लिए बनवाई थी । सीतावेंगा की गुफा नाट्य मण्डप की भांति ही बनी हुई है उसके समक्ष सीढ़ी की भाँति प्रेक्षागृह के भी अवशेष विद्यमानहैं ।[४१] इसके सामने का भाग अशोक के समय के लोमश ऋषि की गुफा से कहीं साधारण है । यहाँ द्वार पर न कोई खुदाई है न सजावट ।[४२] इससे ऐसा अनुमान होता है कि ये गुफाएँ लोमश ऋषि की गुफा से प्राचीन हैं । भारत में गुफाएं जन मनोरंजन के काम में तो बहुत प्राचीन समय से आती रही हैं जैसा हमें अश्वघोष[४३] तथा कालिदास[४४] के ग्रन्थों से विदित होता है । इस कारण यह अनुमान करना कि ये गुफाएं नाट्य मण्डपों के अवशेष हैं उचित ही है । सीतावेंगा गुफा फीट लम्बी तथा २४ फीट चौड़ी है । गुफा के भीतर प्रवेश करने के हेतु बाँई ओर से सीढियाँ बनी हैं, जो कदाचित पात्रों के प्रवेश के लिए काम में लाई जाती थी ।

गुफा के भीतरी भाग में रंगमंच की व्यवस्था है । मंच तीन मेधियों पर बने हैं । प्रत्येक मंच सात फीट छः इंच चौड़ा है । तीनों की सतह एक दूसरे से ढाई फुट ऊची है [४५] ये मच ढलुआ बने हैं चबूतरों के समक्ष दो छेद बने हैं । कदाचित् इनमे बास या लकड़ी के खम्भे पर्दे लगाये जाते थे [४६] दर्शको क बैठन

का स्थान जो इस गुफा के समक्ष वना हुआ है वह ग्रीक आम्फी थियेटर की भाति सीढ़ी नुमा है । उन सीढ़ियों पर कदाचित लकड़ी के पटरे रखकर वैठने का स्थान बनाया जाता होगा, जैसा ग्रीफ थियेटर में पीछे चलकर होने लगा था । सीतावेगा के समक्ष जो पेक्षागृह है उसमें ५० आदमी वड़े सुख से बैठ सकते हैं ।

भरत के विकृष्ट नाट्य मण्डप से यह गुफा वहुत अंशों में मिलती है जैसे "कार्य : शैलगुहाकारों द्विभूमिनटियमण्डपः" इससे अनुमान होता है कि भरत के पूर्व नाटक गुफाओं में खेले जाते होंगे, जिसका अनुकरण भरत ने भी किया । विकृष्ठ मण्डप मध्यम आकार का ४८ फीट लम्बा और २४ फीट चौड़ा होता है । इसके अनुसार सीतावेगा की लम्बाई केवल २ फीट कम पड़ती है, संभवतः नाप मे कुछ अन्तर रहा हो, या बाद में परिवर्तन हो गया हो ।

नाट्य शास्त्र के रचनाकाल (विक्रम पूर्व पंचम शताब्दी से लेकर विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी तक) तक नाट्य का व्यावहारिक रूप ही नहीं वरन शास्त्रीय रूप भी अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था । भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का भी उल्लेख किया है ।[४७]

हर्ष के बाद भारत की सामूहिक चेतना विनिष्ट हो गई और कलाओं मे प्रादेशिक रंग अधिक मुखर होने लगे । नाटकों की भी कोई मुख्य शिष्ट परम्परा शेष नहीं रह गई । अनेक विद्वानों ने इस अभाव के अनेक कारण माने हैं । कुछ लोगो का अनुमान है कि इसका कारण मुगल शासन है । मुगलों में नृत्य-नाट्य की कोई परम्परा नहीं थी, और न ही उनके धर्म में यह सब जायज था । वैसे भी यह सब वस्तुएँ शान्ति के समय अधिक पनपती हैं । एक वर्ग का कथन है कि हिन्दी को संस्कृत की ह्रासोन्मुखी परम्परा उपलब्ध हुई थी, जो अलंकारिकता के बोझ से लदी थी और किसी भी प्रकार अभिनेय नहीं रह गई थी । भारतीय प्रादेशिक राज्यो का विघटन भी इसका एक कारण माना जाता है ।

कारण चाहे जो भी रहा हो, लोक नाट्य फिर भी प्रादेशिक विविधता के साथ प्रचलित रहे ।[४८] इन लोक नाट्यों का शास्त्रीय नाम ही उपरूपक है ।[४९]

नाट्य पर आधारित दृश्य काव्य रूपक कहलाते हैं, और नृत्य पर आधारित उपरूपक । उपरूपकों का स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्यों ने कही नहीं किया है । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय तक ये लोक नाट्य जो नृत्य पर आश्रित थे, साहित्य में परिगणित नहीं होते थे । बाद में इनमें नाटकीय तत्व विकसित होते गये और इन्हें शास्त्रों में स्थान दे दिया गया, परन्तु वे नृत्य पर आधारित उपरूपक ही है । यही कारण है कि लक्षण ग्रन्थों में उपरूपकों की दोनो स्थितियाँ दृष्टिगत होती हैं । कहीं उन्हें मात्र नृत्य माना गया है और कहीं नाट्य । वस्तुतः ये लोक नाट्यों की विकास की दो स्थितियाँ हैं ।

सर्वप्रथम उपरूपकों का उल्लेख अग्निपुराण में उपलब्ध होता है[५०] परन्तु न तो यहाँ इन्हें उपरूपकों के नाम से अभिहित किया गया है न ही इनके लक्षण या ० ही दिए गए हैं इमी प्रकार यद्यपि धनजय न एक स्थान पर लिखा

है 'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थारासकः । काव्यं च सप्त नृत्यस्य, भेदा स्युल्तेऽपिभाणवत ।' पर हम यहाँ भी इनके लक्षण अथवा उदाहरण नहीं पाते । अभिनव गुप्त ने भी डोम्बिका, भाण, प्रस्थानक, भाणिका, प्रेक्षणक, रामाक्रीड, हल्लीशक, रासक, नामक उपरूपकों का उल्लेख किया है, परन्तु विवेचन नही । हेमचन्द्र ने इनमें श्रीगढ़ित और गोष्ठी को भी संयुक्त कर दिया है । शारदातनय ने सर्वप्रथम उपरूपकों का सांगोपांग विवेचन किया है । उन्होंने बीस उपरूपको के लक्षण तथा उदाहरण दिए हैं जिनके नाम इस प्रकार है- त्रोटक, नाटिका, गोष्ठी, सलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थानक, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक (रासक) उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली, परिजानक । साहित्य दर्पणकार ने केवल अठारह उपरूपकों की व्याख्या की है । मुख्य उपरूपक इस प्रकार हैं :-

(१) **नाटिका** - नाटिका वह उपरूपक है, जिसका वृत्त कवि द्वारा कल्पित हुआ करता है । स्त्री चरित्र अधिक होते हैं । चार अंकों में समाप्त होना आवश्यक है । किसी प्रख्यात राजवंश के धीर ललित प्रकृति वाले राजा को नायक के रूप मे रखा जाता है । नायिका के लिए अन्तःपुर से संबद्ध होना, संगीत कला में निपुण होना, राजकुलोत्पन्न होना तथा नव अनुरागवती कन्या होना आवश्यक माना गया है । नायक नायिका का रतिभाव राजमहिषी के अधीन होता है, जो पग पग पर मान करती है । कौशिकी वृत्ति का प्राधान्य रहता है ।[५१]

(२) **त्रोटक**- त्रोटक में पाँच, सात, आठ अथवा अधिक से अधिक नौ अकों का विधान होता है । प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती है ।[५२] हर्ष ने विदूषक की उपस्थिति अनिवार्य नहीं मानी है ।[५३] त्रोटक शब्द नृत्य एवं नाट्य दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है ।[५४]

(३) **प्रकरणिका** : - वस्तुतः उस नाटिका को कहते हैं जिनमें नायक के रूप में सेठ आदि का चित्रण होता है, और नायिका के रूप में उसकी सजातीय स्त्री का ।[५५]

(४) **डोम्बी** :- डोम्बी का लक्षण सर्वप्रथम शारदातनय ने ही दिया है । उनके अनुसार इसमें उदात्त नायिका होती है, एक अंक होता है कौशकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं, तथा वीर और श्रृंगार रस होते हैं । अंकों की संख्या सात होती है ।[५६]-उदाहरण के लिए अप्राप्य कामदत्ता का उल्लेख किया गया है ।

(५) **दुर्मल्लिका** :- जिसकी रचना चार अंकों में होती है, कौशिकी भारती वृत्तियाँ होती हैं, गर्म सन्धि नहीं होती, पात्र कलाकुशल होते हैं, नायक नीच प्रकृति का होता है । प्रथम अंक छः घड़ी का होता है, और विट की विविध क्रीड़ाओं से पूर्ण रहता है, दूसरे अंक में दस घड़ी लगती है, और विदूषक की लीलाएं प्रचुर मात्रा में होती हैं, तीसरा अंक बारह घड़ी का होता है और पीठमर्द की भंगिमाओं से पूर्ण होता है चौथे अक में बीस घड़ियाँ लगती हैं तथा नायक की क्रीडाएं होती हैं ए के लिए विन्दुमती [५७]

(६) **विलासिका :** - श्रृंगार रस प्रचुर होता है, एक अंक, लास्य के दमो अङ्ग, विदूषक विट और पीठमर्द का चरित्र चित्रण, गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नही होती, नायक के अधम वृत्त की मात्रा थोड़ी होती है और वेषभूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता है ।[५८]

(७) **शिल्पकः-** चार अंक चारों वृत्तियाँ होती हैं शान्त और हास्य को छोड़कर अन्य रस होते हैं, नायक ब्राह्मण होता है तथा शम आदि का वर्णन किया जाता है । इसका उपनायक अधम प्रकृति का होता है ।[५९]

(८) **श्रीगदितः** - वह उपरूपक भेद है जिसका वृत्त प्रख्यात एक अक तथा धीरोदात्त नायक होता है । नायिका प्रख्यात, गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नही होतीं, भारती वृत्ति और श्री का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होती है ।[६०] कीथ ने इसका सम्बन्ध छाया नाट्स से भी बताया है ।[६१]

(९) **संलापक :-** वह उपरूपक प्रकार है, जिसकी रचना तीन या चार अंकों में होती है, किसी पाखण्डी को नायक के रूप में चित्रित किया जाता है । श्रृंगार और करुण को छोड़कर कोई भी एक रस अंगी रूप में प्रयुक्त हो सकता है इसमें छल, संग्राम, भ्रम, संभ्रम आदि वर्णना का बाहुल्य रहता है । भारती और कौशिकी वृत्ति अपेक्षित नहीं है उदाहरण के लिए माया कापालिक ।[६२]

(१०) **प्रेङ्खण :** - जिसमें नायक नीच प्रकृति का होता है । गर्भ और विमर्श सन्धियां नहीं होतीं, सूत्रधार की आवश्यकता नही होती, एक अंक होता है, विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होता, नियुद्ध और सरोष भाषण आवश्यक है, सभी वृत्तियाँ अपेक्षित है नेपथ्य से ही नान्दी गायन किया जाता है तथा प्ररोचना भी कर दी जाती है । उदाहरण के लिए बालिवध ।[६३]

(११) काव्य वह उपरूपक भेद है जिसमें हास्य रस का प्राधान्य रहता है । आभटी को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ, एक अंक, खण्ड मात्रा, द्विपदिका, भग्नताल आदि गीत भेदों का उपरंजन आवश्यक है । श्रृंगार रस के प्रकाशक, वर्णमाला छड्डलिका छन्दों से एक सुन्दरता आ जाती है । नायक और नायिका उदात्त प्रकृति के होते हैं, मुख निर्बहण संधियां आवश्यक हैं । उदाहरण के लिये यादवोदा ।[६४]

(१२) **उल्लाप्य-** उसमें नायक उदात्त, बृत्त देवता संबंधी, एक अंक श्रृंगार, हास्य और करुण रस अपेक्षित है । सुन्दर बनाने के लिये संग्राम और आमगीत का सहारा लिया जाता है ।[६५]

(१३) **प्रस्थानक-** जिसमें कोई भृत्य नायक तथा उपनायक उससे भी हीन प्राणी है । दासी नायिका होती है, कौशिकी और भारती वृत्तियां होती हैं । इसके स्थापित विषय की समाप्ति मदिरा विनोद के वर्णन से होती है । दो अंक होते है, तथा लय ताल आदि संगीतात्मक विलास अधिक मात्रा में रहते हैं । उदाहरण के लिए श्रृंगार तिलक ।[६६]

(१४) **सट्टक-** इसकी रचना आरम्भ से अन्त तक प्राकृत भाषा में होती है प्रवेशक और विष्कम्भक की आवश्यकता नही होती प्रधान रूप से अभिव्यग्य

रस अद्भुत होता है इसकी और विशेषतायें नाटिका की ही विशेषतायें हैं, केवल अकों का ही नाम जवनिका हुआ करता है ।[६७] सट्टक नृत्य के प्रमाण मिलते है । उदाहरण के लिए कर्पूरमंजरी ।

(१५) **गोष्ठी -** इस उपरूपक में नौ या दस साधारण श्रेणी के पुरुषों का चरित्र वर्णित हुआ करता है । इसलिये इसमें उदात्त वचन नहीं पाये जाते, कौशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है, पांच या छः स्त्री पात्र आ सकते हैं । सन्धियों में गर्भ और विमर्श का स्थान नहीं है तथा काम श्रृंगार अपेक्षित माना गया है, उसकी रचना एक अंक मे ही की जाती है उदाहरण के लिये रैवत मदनिका ।[६८]

(१६) **हल्लीश-** वह उपरूपक प्रकार है जिसमें एक ही अंक रहता है, सात, आठ या दस स्त्री पात्र होते है । नायक उदात्त वाणी का होता है । कौशिकी वृत्ति रहती है, मुख निर्वहण दो संधियां होती हैं । राग ताल लय आदि का प्राचुर्य रहता है ।[६९] हल्लीश नामक नृत्य भी उपलब्ध होता है ।[७०]

(१७) **रासक-** रासक के भी दो प्रकार के लक्षण उपलब्ध होते हैं नृत्य एव नाट्य । एक ओर वह ऐसा नृत्य है जो ऋतुओं के अनुसार उनके नर्तकियो के साथ मण्डलाकार रूप में किया जाता है ।[७१] दूसरी ओर रासक वह उपरूपक भेद है जिसमें पाँच पात्र होते हैं, मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं, भाषा और विभाषा दोनों का अधिकाधिक प्रयोग होता है । भारती, कौशिकी दो वृत्तियाँ होती हैं सूत्रधार नही रहता, एक अंक होता है, बीथी के सभी अंग होते हैं, नृत्य गीत आदि कलाओं की अपेक्षा होती है, नान्दी गायन श्लिष्ट पद द्वारा किया जाता है, नायिका कोई प्रसिद्ध रमणी होती है और नायक कोई मूर्ख पुरुष । उत्तरोत्तर उदात्त भावो का विकास किया जाता है । उदाहरणार्थ मैनकाहित ।[७२]

(१८) **नाट्य रासक-** नाट्य रासक की भी स्थिति रासक जैसी ही है । इसके भी नृत्य और नाट्य उपलब्ध होते हैं । नृत्य में सोलह, बारह अथवा आठ नाटिकाये भाग लेती हैं, जिसके पिण्डी भेदक, लता श्रृंखला आदि उपभेद होते हैं ।[७३]

दूसरी ओर वह नाट्य प्रकार है, जिसकी रचना एक अंक में होती है, लय और ताल का पर्याप्त स्थान होता है, नायक उदात्त प्रकृति का होता है, नायक का सहायक पीठ मर्द भी आवश्यक है, श्रृंगार के पुट के साथ-साथ ही हास्यरस प्रधान रहता है । नायिका वासक सज्जा होती है । मुख और निर्वहण संधियां होती है, लास्य के दस अंग होते हैं । उदाहरण के लिए नर्मवती विलासवती ।[७४]

(१९) **मल्लिका-** शारदातनय ने मल्लिका का उल्लेख किया है, उसके लक्षण भी दुमल्लिका के समान हैं ।[७५]

(२०) **कल्पवल्ली तथा पारिजातक :-** कल्पवल्ली में नायिका वासक सज्जा होती है, नायक उदात्त होता है, हास्य एवं श्रृंगार रस होते हैं तथा लास्य के दस अग होते है[७६] पारिजातक में नायिका देवकन्या या क्षत्रिय होती है तथा अनेक प्रकार के नृत्यो का प्रयोग होता है[७७]

ये सभी लोक नाट्य किसी न किसी रूप में प्रचलित रहे होंगे, इनकी शास्त्रीय स्वीकृति इस बात की प्रतीक है । कुछ लोक नाट्यों के तो व्यवहारिक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं ।

कुवलय माला कथा (वि० सं० ८३५) में एक कथा आती है । किसी वन में पाँच सौ भयंकर डाकू रहते थे, वहाँ सुधर्मा स्वामी पहुँचे । उन्होंने एक ऐसे चर्चरी युक्त रास (नृत्य नाट्य) का गान किया कि डाकुओं का भाव परिवर्तन हो गया ।

संवुज्झह किणं बुज्झह एत्तिह वि मा किंचि मुज्झह ।

सीरउ कसिण-कमल-दल-लोयण-चल-रेहतओ ।

पीण पिहुल-थण-कडियल-भार किलंतओ ।

ताल-चलिर-वलयावलि-कलयल सद्दओ ।[७८]

रास यम्मि अइलब्भई जबई-सत्कओ ।।

उपमितिभव प्रपंचा कथा (वि० ९६२) में भी इसी प्रतार के दो उल्लेख प्राप्त होते हैं । बठरगुरु एक मठ का स्वामी था किन्तु मूर्ख था । कुछ चोरों ने मैत्री का ढोंग रचकर उसके मठ पर अधिकार कर लिया, और एक महाधूर्त चोर को उसका नायक बनाया । तालियाँ वजा वजाकर वे बठरगुरु को नामक के सामने नचाते और स्वयं गाते -

धूर्तभाव मुपंगम्य कथञ्चि दहो जना

वञ्चयध्वनमपि मित्र जनं इतभोजनाः ।

मन्दिरेत्र बठरस्य यथेष्ट विधायका,

एत एत ननु पश्यथ ब्यमिति नायकाः ।। [७९]

दूसरी कथा रिपुदारण राजा की है जो सिद्धार्थपुर का मिथ्यावादी राजा था । अभिमान वश वह देश के सर्वभौम राजा तपन का तिरस्कार करता

स्वांग-स्वांग सम्बन्धी उल्लेख सिद्ध कणहपा की रचनाओं में मिलता है -

नगर वाहिरे डोंबी तोहारि कुड़िया छइ

छोइ जाइ सो ब्रह्म नाड़िया ।।

आलो डोंबि तोए सम करिबय सांग

निधिण कणह कपाली जोइ लाग ।।

इस साधना में डोमनी आदि का अवाध सेवन एक आवश्यक अँग माना जाता है । डोमनी के साथ साँग करने का प्रमाण उस समय की प्रचलित सांग शैली को ही उद्घोषित करता है । डोम जाति का व्यवसाय ही सांग करना है ।[८०] जायसी[८१] और कबीर[८२] ने भी सांग प्रथा का उल्लेख किया है ।

सटटक- सटटक मुख्यत एक नृत्य नाटय है ।[८३] डा० ए० एन० उपाध्ये सटटक शब्द को सस्कृत का रूप स्वीकार नही करत उनका विचार है कि सटटक

शब्द संभवतः द्राविणी भाषा का शब्द है जो अट्ट शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है नृत्य । भाव-प्रकाश में सट्टक की नृत्यमूलक व्याख्या प्रस्तुत भी की गई है ।[८४] राजशेखर ने उसे 'पाडबंध' कहा था तथा बताया है कि इसका अभिनय नृत्य द्वारा किया जाता है ।[८५]

"सो सट्टक एक प्रकार का नाटक है, या लौकिक तमाशा है नौटंकी की तरह । . . . . . लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर, संस्कृत के नाट्य शास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था ।[८६]

द्वितीय शती विक्रम पूर्व के भरतहुत स्तूप की वेदिका पर सट्टक का अकन पाया जाता है ।[८७] उस पर यह लेख भी पाया जाता है - साडकं सम्मदं तुर देवानां।"

साडक को स्टेनकोनो जैसे विद्वानों ने सट्टक ही माना है । इस दृश्य मे कुछ गाने वाले हैं तथा चार स्त्रियाँ नृत्य कर रही हैं । एक तूर्य या वृन्दवाद है तथा वीणावादिनी स्त्री पाणिवादक, माड़हुकिक और झार्झरित अंकित किये गए हैं ।[८८]

यात्रा- यात्रा नाट्य भी लोक नाट्यों की एक लोकप्रिय शैली रही है । वर्तमान रूप में अब भी यह एक नृत्य नाट्य है ।[८९] यहाँ तक कि कुछ विद्वानों का विचार है कि यात्रा नाट्य वैदिक काल से ही अस्तित्व में आ चुका था ।

सन्दर्भ

1. man is rhythmical by nature----especially on the emotional side. The more intense his emotion the stronger his sense of rhythm. He does not have to be taught to beat a drum with regular cadence or to dance to the beating of the drum, he knows how. The beating of his own pulse the rhythm of his breath-these have given him **- The Story of the Theatre-P.5**
2. He is almost certain to include poetry in his Ceremonials, and if he develops properly, he will add prose dialogue though by that time he is well on the way towards civilization.

   The Story of the theatre P [illegible]
3. Pastoral man, living close to nature and entirely dependent on her for his everyday need is inevitably much affected by the natural phenomena & his environment consequently, the national and folk-dance of a country are much influenced in atmosphere and theme by these natural circumstances as by the geographical conditions prevailing in the areas to which they belong" **The Folk dance of India Projesh Banerje P 1[illegible]**

४ १ कथकाल नृत्यकला पृष्ठ ३०

5. (2) To explain the hymns of Indra and the maruts ci 170-171 -and 165 & we are to hold that we have there scenes of a dramatic performance which takes place at a Soma sacrifice to celebrate the victory of Indra over the serpent vitra, ending with a dance of the Maruts, represented by youths fully armed.
6. This weapon dance is a relic of old year, winter of death.

   (3) The Sanskrit drama - P.30

   (३) वही पृष्ठ २४ ।
7. The contest is often present as one between summer and winter, and we have seen in the Mahavrata what probably a primitive form of this contest, the white Vaicya fights with the block cudra for the sun and attains possession of its symbolical form. The red of krisna's following their proclaims him as the genius of summer who overcomes the darkness of the winter. **-The Sanskrit Drama-P.37**
8. The same condition must be expressed of the effort to find in the frog human (vii 10s) a song sung by men masked as frogs, dancing as a spell to secure rain

   -वही-पृष्ठ सं० १८-१६ ।

६. वही पृष्ठ २६

10. The early Greeks are said to have, believed the seed sower could influence the height of the grain by fearing in the air as he sowed. The higher he leaped, the heigher the stalks would grow. **-The story of the theatre P.7.**

11 The mask is indispensable to primitive drama when it is not working magic on the wearer, it is at least instilling righteous fear in the hearts of the younger generation. **-Ibid P.6.**

१३. मैफे, फरदर एक्सकवेशन एट मोहन जोदड़ो, फ्लक ७४ चित्र २१, २२, २५, २६ फ्लक ७६ चित्र १, २, ३, ४

१४. नाट्यशास्त्र - २३

१५. कथकलि नृत्यकला-अविनाश चन्द्र पृ० ६०-६१

16. The Gambbira (the consort of Shiva) festival assumed a great importance. During this festival many devotees put on different masks and played various arts to please shiva, celebrated in every district of Bengal with dance, music and songs feas s p ocession and soc a gathe ngs

    The nd an Theatre Ya n k p 57

The Folk element in Hindu Culture, London 1917.

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूपं मर्माय समचरं नरिष्ठायै ।
भील नमाय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीपख प्रमदं
कुमारीपुत्रंमैधायेरथकारंधैर्य्यामतक्षाणम ।।६।।
यजुर्वेद सहिता-३० अध्याय, मत्र ६

It reems, therefore, that even if the elements of the drama were present in the Vedic times, there is no proof that the drama, in how ever, rudimentary form, was actually known The actor is not mentioned nor any dramatic terminology occur. There may have been some connection between the dramatic religious ceremonies and the drama in embroyo.

-History of Sanskrit Literature, by Dr. S.N. Das Gupta and Dr. S. K. De p. 46-47

पुरुरवा उर्वसी संवाद-ऋग्वेद १०-१५
यमयमी संवाद - ऋग्वेद-६०-६०
इन्द्र इन्द्राणी वृषाकपि सवाद-ऋग्वेद-६०-८६
सरमा-पाणिस संवाद - ऋग्वेद ६०-१०८
कात्यायन श्रौत सूत्र - ७-७-२५

The dialogue was repeated at sacrifices in honour of the Maruts of that possibly it was acted by two parties, one representing Indra the other the Maruts and their followers

-Max Muiler's version of the Rg-Veda, Vol I p. 173.

The samveda shows that the art of music had been fully developed by the vedic age More over the Rgveda already knows maidens who decked in splendid raiment, dance and attract lovers, and the Atharvaveda tells how men dance and sing music. There is therefore a priori no fatal objection to assuming that the period of the Rgvede knew dramatic spectacles, religious in character in which the priests assumed the roles of gods and sages inorder to imitate on earth the events of the heavens.

Le theatre Indian-Bibliothique de, Ecole des-Haits Etudes, Fascicule 83, 1890, pp. 307, 308

They represent an old type, Indo-European in antiquity of composition of epic character, in which the verses representing the points of highest emotion were preserved and the connecting links were in prose which was not ste eo-typed and the efo e has not come down to us

The Sansknt Drama-pp 21 22

२४. कात्यायन श्रौतसूत्र- ७-८-२५ काव्य कला और अन्य निबन्ध
२५. महाभारत हरिवंश पर्व ६१-६७
२६. नटनर्त्तक संघानां गायकानां च गायताम्
२७. नट नर्तक संघानाम् गायकानाम् च गायताम् । यतः कर्णसुखा वाचः सुश्राव जनता ततः । **अयोध्या ०७-१४**
२८. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ८ अप्रैल १९६२ पृ० ३०
२९. पक्षस्य मासस्न्न था प्राख्यातेऽहानि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाज । -कामसूत्र,नागरकवृत्तप्रकरण । ।१५
३०. डॉ० भण्डारकर, इण्डियन इन्टिफ्लेरी ख० (१९१३) पृ. २५५
३१. प्राचीन भारत का कला विलास, पृ० ८७
३२. हजारा आर० सी० बुद्धिस्ट एविडेन्स फार दि अली एकजिस्टेन्स ऑव ड्रामा, आई० एच० क्यू जून १९३१, खण्ड १७, सं० २, पृ० ११७
३३. काव्य कला और अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, तृतीय संस्करण, पृ. ६१
३४. "इह तु कथं वर्तमानकालता कंस घातयति बेलिं बन्धयतीति चिरहते कसे चिरबद्धे च बलौ । अत्रापि युक्ता । कथम । ये तावदेते शोभनिकानानभेते प्रत्यक्षं कंसं घातयति प्रत्यक्ष च बलि वन्धयन्तीति ।"
३५. इण्डियन थियेटर, श्री चन्द्रभानु गुप्त, पृ० २५
३६. न च तत्रारामं विहाराथीः शालाः स्यु" (४१ओल्ट्र नट नर्तक गायक वाटक वाग्जीवन कुशीलावावान कर्म विघ्नम् कुर्यः । ।४२
३७. असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यकेदिषुः कृष्ण विहार विभ्रमाः ।
३८. इत्युन्मत्तवचो गोत्यः कृष्णान्वषकातराः ।
लीला भगवतस्तास्त । ह्युनुचक्रस्तचदात्मिकाः ।
कस्ताश्चित् पूतनावन्त्याः कृष्णायन्त्यपिवत् स्तनम्
तों कामित्वा रुदत्यन्या पढाहञ्छकटायतीम् ।
कृष्णारामायिते द्वे तु गोपायन्त्यञ्च काश्चन ।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तनैका तु वकायतीम् । -भागवत्, दशमस्कन्ध
३९. क्लाश, जे. एच. आर्किलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया १९०३०४ पृ० १२३-१३०
४०. क्लाश, वही चित्र ४३
४१. क्लाश, वही, फलक ४३ मी
४२. वेजामिन रोलाण्ड, दी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, चित्र ७
४३. सौन्दरानन्द, ६-३३
४४. कुमार संभव ६-१०, मेघदूत ६-२७
४५ क्लाश वही पृ० १२६
४६ क्लाश वही पृ० १२७

नाट्य शास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्तिल इन चार प्राचीन नाट्यकारों का उल्लेख किया है-

कोहलादिभिरेतैवी वात्स्य-शाण्डिल्य-धूर्तिलैः ।
एतच्छास्त्वं प्रयुक्तं नु नराणां बुद्धिवर्धनमू ।।

Now it is obvious that with the ruin of the classical drama proper after the rise of the Mohammedan power, the lower species came more into prominence and then contributed largely to the village drama.

The Indian Theatre- Its origins and its later developments under European Influence by R.K.Yajnik-London 1933 P 53.

The other species enumerated have no representative in the old literature, nor is this wonderful for they show the character rather of partomime with song, dance, and music than of serious drama." -The Sanskrit Drama P 35

नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा
ज्ञेयःसमवकारश्च भवेत्प्रहसनं तथा ।१।।
व्यायौगभाणावीथ्यंकत्रोटकान्यथ नाटिका ।
सट्टकं शिल्पकः कर्ण एको दुर्मल्लिका तथा ।।२।।
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च ।
काव्यंश्रीगदितंनाट्यरासकंरासकंतथा।।३।।
उल्लाप्यकं प्रेऽक्षणं च सप्तविंशतिथैव तत् ।।

-अग्नि पुराण का काव्य शास्त्रीय भाग, रामलाल वर्मा, पृ. ३

साहित्य दर्पण, विश्वनाथ-२६६-२७२

भाव प्रकाश, शारदातनय, नवम् अधिकार

साहित्य दर्पण, विश्वनाथ २७३

The term denotes boath a dance and confused speech an the origin of the species need be sought only in this peculiarity Sanskrit Drama. PP.351

(१) नाटिकैव प्रकरणी मथिवाहादिनायका ।
समानवंशजा नेतुर्भवेधत्र च नायिका ।। **साहित्य दर्पण, ३७**

(२) डोम्बेल भाण्डि कोदात्त नायि कैकांकभूषिता ।
कैशिकीभारतीप्रायावीरश्रृंगारमेदुरा।।
श्लक्ष्णनेपथ्यभाङ्गन्दोत्साहा पुरुषनायिका ।
अङ्गानि तस्याः सप्त स्युः कामदत्ता यथा कृता ।।

भाव प्रकाश नवम अधिकार पृ० २५

५७. (३) साहित्य दर्पण, ३०३-३०५
५८. (१) साहित्य दर्पण. ३०६, ३०२
५९. (२) साहित्य दर्पण, २९६, ३००
६०. (३) वही, २९३. २९४
६१. (4) The word crt is often mentioned or the goddess is presented seated and singing some verse. The only play known of that name is the Subhadraharana of Madhava before A.D. 1600 which is much like anordinary play but contins a narrative verse, suggesting connexion with the shadow-drama it is characteristic that the theory ignores wholly this type. **The Sanskrit Drama, P.351**

६४. साहित्य दर्पण, २८४-२८
६५. व, २८२-२८३
६६. साहित्य दर्पण, २८०-२९१
६७. वही, २७६
६८. वही, २७४-२७५
६९. अभिनय भारती, ३०७
७०. मण्डलेन तु मन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम् ।
एकस्तत्त तु नेता स्यात्-गोपस्त्रीणां यथा ।। **हरिवंश, पृ० १९३ ।**
७१. मण्डलेन तु यत्कं तद्रा सकमिति स्मृतम् ।
एककस्तस्य नेता साद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ।।
अनेकनर्तकीयोर्ज्यचित्रताललष्ययान्वितम्।। **भाव प्रकाश, पृ० २६६**
७२. साहित्य दर्पण, २८८-२८९-२९० ।
७३. षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्न त्यन्ति नायिका : ।
पिण्डीबन्धादिविन्यासै रासकंततुदाछतम् ।।
पिण्डनान्तु भवेत्पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत ।।
-भाव प्रकाश, पृ० २६३-२६४
७४. साहित्य दर्पण, २७७-२७९
७५. भाव प्रकाश, पृ २६७
७६. कल्पवल्ली भवेद्धास्य श्रृंगाररस भावयुक्त ।
उदात्तनायकोपेतापीठमर्दोपनायका।।
अस्यां वासकसज्जा स्यान्नायिकाऽथाभिसारिका ।
द्विपदीखण्डगेयाढ्या रथ्यावासफतालयुफू ।।
लयत्रययुता लास्यदशकेनसमन्विता ।। **भाव प्रकाश- पृ० २६८**
७७ पारिजातलतैकाकमुख ०

वर्णमात्राखण्डतालवतीगाथासमन्विता।।
वीर श्रृंगार भूमिष्ठा देवक्षत्रादिनायका ।
कलहान्तरितावस्थानायिकोदात्तनायका।।

७८. मरु भारती, वर्ष ८, अंक २, १९६०
७९. मरु भारती, वर्ष ४, अंक २, जुलाई १९५६
८०. हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास पृष्ठ ३८ ।
८१. पातुरि एक हुति जोगि संवागी, साह अखोर हुत ओहि मांगी ।
जोगिनि भेस वियोगिनि कीन्हा, सींगी सवद मूल तत लीन्हा ।।
-जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २००६ वि०
पृ०२७५।
८२. कथा होय तहं स्रोता सोवैं, वक्ता मूढ़ पचाया रे ।
होय जहाँ कहीं स्वाँग तमासा, तनिक न नींद सताया रे ।।
-कबीर वचनावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा नवां संस्करण, सं० २००३
वि० पृ० २१६
83. As the denotes a form of dance, it is quite possible that it owes it origin as a species to the use of such dances in these plays.

-Sanskrit Drama, 350

८४. चन्दलेहा-भूमिका, पृ० २६
८५. कर्पूर मन्जरी, यूनीवर्सिटी आव कैलकटा, सन् १९३९, १.६
८६. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०७-८
८७. बरुआ, भरतहुत, भाग १, फलक २, भाग ३, चित्र ३४ ।
८८. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० १७१
89. The earlier yatra some kind of operatic, and melodramatic performance, a volkspiel, with some dialogue and semi-dramatic presentation, in which improvisation played a considerable part. It had a probable connection with

-The Indian theatre, R.K. Gajnik. p. 53

द्वितीय महायुद्ध के बाद का हिन्दी नाट्य साहित्य

अप्रैल १६४५ तक दुनिया दो विश्वयुद्धों से गुजर चुकी थी । अगस्त १६४५ में हिरोशमा और नागासाकी पर गिराए अणुबमों ने संसार को एक प्रश्न चिह्न के समक्ष लाकर छोड़ दिया । प्राचीन मूल्य जैसे खोखले हो गये, समस्त विश्व मे एक ओर से दूसरी ओर तक अराजकता, वीमारी, भुखमरी, बेकारी अपने भीषण रूप में उत्पन्न हो गई । फलस्वरूप पुराने ढाँचे चरमराने लगे और यूरोप में कुछ ऐसी विचारधाराओं का जन्म हुआ, जिन्होंने एक साथ कला की सभी सीमाओं का स्पर्श किया, सभी विधाओं में अभिव्यक्ति पाई । द्वितीय विश्वयुद्ध के वात का नाटक साहित्य भी इसी परम्परा की एक कड़ी है ।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यथार्थवाद ने जन्म लिया था, जो मूलत रोमान्टिक विचारधारा का ही विरोध था । औद्योगिक क्रान्ति ने मानव जीवन मे अर्थ के महत्व को केन्द्रित किया था, अतः भावना, कला और कल्पना का स्थान बुद्धि, स्वाभाविकता और तर्क ने ग्रहण कर लिया । नाटकों की सीमा में विस्तार हुआ और उसकी परिधि में समस्त जन-जीवन सिमट आया । समस्यायें-चाहे वे सामाजिक हों, या राजनैतिक, नाटकों के माध्यम से अभिव्यक्ति की जाने लगीं ।

नाटकों की आत्मा बदलने के कारण उनका कलेवर भी नवीन रूप धारण करने लगा था । गीत जो भावुक, कोमलता के प्रतीक थे नाटकों से हटा दिये गये, कथानक तथा संवादों में सरलता दृष्टिगत होने लगी । संघर्ष केवल व्यक्तिगत नहीं रह गए वरन् उन्हें वर्गगत प्रतीकात्मकता दे दी गई । वे वाह्य जीवन में सीमित न रहकर मानव के मन को ही अधिक व्यंजित करने लगे । इब्सन् में इस विचारधारा का चरमउत्कर्ष मिलता है ।

इसी यथार्थवाद की एक धारा स्वाभाविकतावाद या नेचुरलिज्म के नाम से प्रचलित रही । इस धारा के अन्तर्गत फोटोग्राफिक कला को प्रश्रय दिया जाता है । यथार्थ जगत् के सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रों को स्वाभाविक रूप में प्रकट कर देना ही कला की सार्थकता मानी गई । इस विचारधारा का प्रारम्भ एमिले जोला ने किया था । उसने अपने नाटकों में समाज के कुत्सित चित्र उपस्थित करके ही उनका उपचार करना चाहा है । कथानक का प्रयोग इन नाटकों में बहुलांश में उतना ही है जितना बहुत जरूरी है- और जिसके द्वारा जीवन के जघन्य से जघन्य चित्रो को अभिव्यक्ति दी जा सकती हो जर्मनी के सडर मैन तथा हाप्ट मैन रूस के गोर्की

तथा चेखव, फ्रान्स के ब्रुइवस, इटली के पिरेन्डोला और अमेरिका के यूगेन नील इसी प्रकार के ख्यात नाटककार हैं ।

प्रतीकवाद यथार्थवाद और स्वाभाविकतावाद दोनों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था । युग के सत्य को अभिव्यक्त करने के लिये- और युग-युग के सत्य को वाणी देने के लिए केवल साधारण भाषा ही पर्याप्त नहीं होती । अतः उसके लिए प्रतीक-पद्धति का प्रयोग किया जाने लगा । इस प्रकार के नाटककारों में डब्लू० बी० ईट्स जेम्सबारी, जॉन ड्रिंक वाटर तथा टी० एस० इलियट प्रसिद्ध हैं । ईट्स का 'दा काउटेस्ट कैथलीन' एक सुन्दर प्रतीकवादी रचना है, जिसमें विवाह से पूर्व ही एक नवयुवक अपनी प्रेमिका को छोड़कर एक वृद्धा से प्रेम करने लगता है । वृद्धा अपनी मातृभूमि की प्रतीक बनाकर उपस्थित की गई है । इब्सन् का 'जब हम मुर्दे जाग उठते हैं, एक सुन्दर प्रतीक नाटक है मैटरलिंग का ब्लूवर्ड एक आध्यात्मिक आनन्द का चित्र उपस्थित करता है जिसमें दो लड़के एवं नीली चिड़िया- जो आनन्द का प्रतीक है - को प्राप्त करना चाहते हैं, पर अन्त में चिड़िया उड़ जाती है । रूस के ऐण्ड्रीव की 'टु द स्टार्स', द ब्लैक लास्कर्स, 'द लाइफ ऑव मैन' और एवरी की 'इन द विग्स ऑव द सोल', 'द फोर्थ वाल' प्रसिद्ध प्रतीकात्मक कृतियाँ है । 'इन द विग्स ऑव सोल' में एवरी ने दोहरे तथा बहुव्यक्तित्ववादी चरित्रों का चित्रण किया है । उसका कथन है कि मनुष्य का अहं कई स्तरों से मिलकर बना है,"मैं अकेला नहीं वरन् कई 'मैं' का समन्वित रूप है ।" व्यवहार में कहा जा सकता है कि उसके तीन प्रधान रूप हैं, पहला तर्क, दूसरी भावना और तीसरी शाश्वत वृत्ति । इस प्रकार की तीनों वृत्तियों का समन्वित रूप उसने नाटक के चरित्रों में खींचा है ।

बीसवीं, शताब्दी में जर्मनी में अभिव्यंजनावाद का उदय हुआ था । इसमे मनुष्य के पूर्ण जीवन तथा वाह्य परिस्थितियों का चित्रण न करके, उसके अवचेतन तथा अर्द्धचेतन मन की घुटन के चित्र उरेहे जाते हैं । किसी वस्तु के स्थान पर केवल उसका प्रतीक ही पर्याप्त मान लिया जाता है ।[२] कथानक और सेटिंग कम से कम होती है । छोटे-छोटे अंक, चरित्रों के संवाद टूटे और अस्त-व्यस्त, व्यक्तित्व दोहरे तथा अनेक रूप ।

अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध पेरिस उत्पन्न क्यूबिज्म तथा इटली में उत्पन्न फ्यूचरीज्म से भी है । सबसे पहले जर्मनी के जार्ज कैसर के नाटकों में इस शैली के दर्शन हुए । उसके प्रसिद्ध नाटक 'गैस' में व्यक्तिगत चरित्रों के स्थान पर सामूहिक मानवता के अन्तरिक भावों और संघर्ष का चित्रण किया गया है । एक अन्य प्रसिद्ध अभिव्यंजनावादी नाटककार दूरस्ट टालर है, जिसने "मैन एण्ड द मासस" मे सामूहक मानवता की चेतना का हिस्टारिकल ढंग से व्यक्त किया । पिरेन्डेलो तथा यूगेन ओ नील ने संसार की सभी भाषाओं के नाटकों को प्रभावित किया है ।

चित्रकला की एक विशेष शैली सुर्यलिज्म का भी प्रभाव आधुनिक पर पड़ा है जिसमे अवचेतन मन की कुठाआ का विशेष रूप से अकन

किया जाता है ।[२] फ्रान्स के पश्चात् उसका प्रचार अमेरिका मे हुआ जहॉ नाटको मे नये प्रतीक तथा संकेतों का प्रयोग बिम्ब के रूप में ग्रहण किया गया । काकतो और आरफी इस शैली के प्रधान नाटककार हैं ।

द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका ने अस्तित्ववाद को भी जन्म दिया, जिसके प्रेरक ज्यां पाल सार्त्र थे । इसके माध्यम से निराशा, पतन, दुःख तथा नास्तिकता का घोर चित्रण नाटकों में किया गया । सात्र ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'लमोचे' में ग्रीक कथा में प्रतीकात्मकता का समावेश करके उसे सर्वथा नवीन रूप प्रदान किया है । प्रथम दृश्य जर्मन युद्ध की भयंकरता को प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता है । रंगमंच मे सड़ी हुई लाशों की दुर्गंधि, भिनभिनाती मक्खियों का स्वर शोक सुनाई पड़ता है । सात्र का कथन है कि मानव जीवन विरोधाभास तथा व्यंग्य से भरा हुआ है । इस प्रकार की भावनाओं का चित्रण करना ही अस्तित्ववादी कलाकारों का कर्त्तव्य है ।

ये सभी सिद्धान्त द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के हिन्दी नाट्य साहित्य मे मिल-जुल कर और कभी एकाकी प्रतिबिम्बित होते रहे हैं उनके प्रभाव की दिशाऍं बहुल और विरल हैं ।

(२)

सन् १९४५ में और उसके दो वर्षों बाद तक भारत में आजादी की लडाई अपने पूरे उत्कर्ष पर थी । सन् १९४७ में भारत को स्वतंत्रता मिली, परन्तु साथ देश के दो टुकड़े हो गए, जिसके परिणामस्वरूप भीषण रक्तपात एवं साम्प्रदायिक दगे प्रारम्भ हो गये । बंगाल के अतिरिक्त सारे देश में दुर्भिक्ष तथा महामारी का प्रकोप फैला । जीवन में एक असुरक्षा एवं अशान्ति छा गई । बेकारी, मँहगाई और युद्धोपरान्त के अन्य गुण (?) उसी प्रकार छा गए जिस प्रकार यूरोप में । यही कारण है कि आत्मा और कलेवर दोनों में ही यूरोपीय नाट्य साहित्य ने भारतीय नाट्य साहित्य को बहुलांश में प्रभावित किया है ।

आधुनिक युग के मुख्य नाटककारों की गणना सम्भव भी नहीं, अभिप्रेत भी नहीं, केवल कुछ अभिनव प्रयोगों के आधार पर युग की गतिविधियों का अकन किया जा सकता है ।

(i) सेठ गोविन्ददास
(ii) लक्ष्मीनारायण मिश्र
(iii) उदयशंकर भट्ट
(iv) उपेन्द्रनाथ अश्क
(v) जगदीशचन्द्र माथुर
(vi) विष्णु प्रभाकर
v रामवृक्ष बेनीपुरी
v धर्मवीर भारती

(३)

भावभूमि के समान ही तकनीकी दृष्टि से भी यह युग नए प्रयोगों का युग है।

फॉयड के मनोविज्ञान का प्रभाव सवसे अधिक लक्ष्मीनरायण मिश्र के ऊपर पड़ा है । उनके अधिकांश नाटक किसी न किसी मनोवैज्ञानिक समस्या को लेकर चलते हैं ।

सेक्स सम्बन्धी मानसिक रोगों का वर्णन सेठ गोविन्ददास के 'पतित सुमन' और उदयशंकर भट्ट के 'नया समाज' में भी किया गया है । 'पतित सुमन' की समस्या भाई-वहिन के प्रेम की है, जिनकी माताएँ पृथक हैं । परन्तु पिता एक ही है - यह रहस्य उन दोनों को ही ज्ञात नहीं है । तथ्य ज्ञात हो जाने पर दोनों का ही जीवन दुःखमय हो जाता है - और अन्त में सुमन गंगा में डूबकर आत्म-हत्या कर लेती है । लेखक का दृष्टिकोण फ्रॉयड की आदिम काम भावना से ही प्रभावित है जहाँ किसी भी प्रकार की नैतिक मर्यादा वाधक नहीं होती । उदयशंकर भट्ट का 'नया समाज' एक नई समस्या का प्रतिपादन करता है । नाटक की नायिका कामना की काम-पिपासा किसी भी प्रकार शान्त नहीं होती, कारण वह आडिपस ग्रन्थि तथा आत्म-रति ग्रन्थि से पीड़ित है । वह अपने नौकर रूपा से प्रेम करने लगती है जिसकी ऑखें उसके पिता और भाई जैसी हैं, और जिसमें वह स्वयं अपनी छवि भी देखती है । जब उसे ज्ञात होता है कि रूपा लड़की है तो उसका जीवन एकान्त दुःखमय बन जाता है ।

विषय तथा टेकनीक की दृष्टि से अश्क ने अत्यन्त कुशल प्रयोग किये है, जिसमें उनका सजग कलाकार स्पष्ट प्रतीति रखता है । उनका "कैद" मुख्यतः एक प्रतीकात्मक नाटक है, जिनकी नायिका अपनी एक मध्यवर्गीय समाज की विवश नारी की प्रतीक है । यद्यपि वह दिलीप से प्रेम करती है, परन्तु उसका विवाह उसके माता-पिता प्राणनाथ से कर देते हैं, क्योंकि उनकी पत्नी-अप्पी की वड़ी बहिन का देहान्त हो चुका है ।

प्राणनाथ अकनूर घाटी का रेंजर है, शिकारी है, वह मनुष्य की वर्वर प्रवृत्ति का प्रतीक है, सौन्दर्य और कोमल वृत्तियाँ उसके लिए कोई महत्व नहीं रखती । अश्क ने प्रतीकात्मक रूप से उसकी तुलना किंग-कौंग से की है -

प्राणनाथ-किंग-कांग ! किंग-कांग

अप्पी- एक भयानक फिल्म का नाम है, जिसमें एक वनमानस एक सुन्दर लडकी को उठा ले जाता है । उसी जैसा भयानक और निडर है यह वन्दर ।

"उड़ान" अश्क जी का एक अन्य प्रतीकात्मक नाटक है । शंकर, मदन और रमेश मनुष्य की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक है । शंकर नारी को मात्र वासना का साधन समझता, मदन उसे अपनी सम्पति मानता है, और रमेश उसे देवी मानकर उसकी एकान्त पूजा करना चाहता है परन्तु नारी को - जिसका प्रतिनिधित्व माया करती है एक सगी साथी की आवश्यकता होती है वह स्पष्ट कहती है

''तुम एक दासी, खिलौना, देवी चाहते हो, संगिनी की तुममें से किसी को आवश्यकता नहीं ।

अश्क ने स्वप्न नाटक के प्रयोग भी किए हैं, जिनमें उनका 'छोंटा बेटा' अत्यन्त सुन्दर रचना है । सांकेतिक प्रतीकों एवं छायाचित्रों के माध्यम से इसमे अवचेतन की अभिव्यक्ति की गई है । बसन्तलाल इस नाटक का नायक है, जिसके पाँच बेटे हैं छठा लापता है । उसे शराब पीने की लत है, जिसके कारण उसके पाँचों बेटे रुष्ट रहते हैं । संयोग से बसन्तलाल को तीन लाख की लाटरी मिल जाती है और उसके पाँचों पुत्र सेवा के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं । छाया की अवतारणा बसन्तलाल के स्वप्न के रूप में की गई है । पाँचों पुत्रों की छायाएँ बारी-बारी से उनके मन में आती हैं जिनके प्रति वे क्रोध और उदासीनता का भाव प्रकट करते हैं । अन्त में छठे बेटे की छाया आती है, जो पूर्वस्थिति में भी पितो की सेवा का आश्वासन देती है । तभी स्वप्न भंग हो जाता है - और नाटक भी समप्ता होता है। पूर्ण नाटक का क्रीड़ा क्षेत्र अवचेतन मन है और छठा बेटा मानव की उस अभिलाषा का प्रतीक है जो कभी पूरी नहीं होती ।

आधुनिक युग में कुछ 'एकपात्रीय' नाटकों के प्रयोग भी किए गए है । यद्यपि संस्कृत में वाण' की परम्परा कुछ इसी प्रकार की है, परन्तु ये एक पात्रीय नाटक तकनीकी दृष्टि से मोनोड्रामा और मोनोलॉग के निकट हैं । सेठ गोविन्ददास, और विष्णुप्रभाकर के प्रयोग इस दिशा में काफी सुन्दर हैं । सेठ गोविन्ददास के 'प्रलय और सृष्टि' में एक अधेड़ आयु का मनुष्य अपने विध वर्षों के चश्मे, नोटबुक, कलम, हाउस, टावर घण्टा, चिमनी, बादल तथा धरती को देखकर अपने मनोभावो को व्यक्त करता है । नेपथ्य में होने वाली ध्वनियाँ उसकी विचार श्रृंखला को तोड़कर दूसरी ओर प्रवाहित कर देती हैं और वह खिड़की से बाह्य प्रकृति को देखकर अपने आन्तरिक द्वन्दों को व्यक्त करता है । रामवृक्ष बेनीपुरी का 'सीता की' माँ भी, इसी प्रकार का प्रयोग है । इसमें एक पात्र सीता की माँ- ही सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन करती है 'कोणार्क' जगदीशचन्द्र माधुर का संस्कृत कथा पर आधारित नाटक है जिसमें नाटकों की प्रस्तावना तथा पाश्चात्य नाटकों के प्रोलोग तथा एपीलॉग के आधार पर उपक्रम तथा उपसंहार का प्रयोग भी किया गया है ।

गीतिनाट्य और भावनाट्य यद्यपि सर्वथा नवीन नहीं है, परन्तु वर्तमान युग की आत्मा उनमें एक नवीन रूप में ढल सकी है । इस प्रकार के नाटको की सफलता काव्य एवं अभिनय का सुन्दर संयोग ही है । पाश्चात्य नाटककारों मे इस प्रकार की विधा में टी० एस० इलियट अधिक ख्यात रहे हैं । इलियट का कथन है कि जैसे शरीर के लिए आत्मा की स्थिति परम आवश्यक है उसी प्रकार नाटको के लिए कविता आवश्यक तत्व है क्योंकि जीवन नाटक के वाह्य रूप का ही नही उसके अर्न्तमय का चित्रण भी हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है । अतः बर्हिजगत् की घटनाओं के प्रकाशन का माध्यम गद्य हो सकता है परन्तु आन्तरिक जीवन का पद्य द्वारा ही हो सकता है शरीर बर्हिजीवन है आत्मा तत्व है

इसीलिए शरीर के लिए जिस प्रकार आत्मा की आवश्यकता है, उसी प्रकार नाटकों के लिए कविता की आवश्यकता है ।

गीति नाट्यों का प्रारम्भ प्रसाद के करुणालय से हो जाता है । आधुनिक युग मे पंत जी ने भी सुन्दर गीति नाट्य लिखे हैं, यद्यपि वे काव्य एवं अभिनेयता में सन्तुलन बनाए रखने में अधिक सफल नहीं हो सके हैं । इस अवधि में लिखित ''शिल्पी'' में युग द्वारा उत्पन्न अर्न्तद्वन्दों का चित्रण है- बीच-बीच में माधुर्यपूर्ण गीतों का भी समावेश है -

आ जाता है बसन्त पतझर में,
प्राणों का स्पन्दन प्रस्तर में ।
जाती दिव्य ज्योति अन्तर में,
तम के मूल हिला ।

''ध्वंसशेष'' में पाश्चात्य साम्यवादी तथा भौतिक विचारधारा के फलस्वरूप उत्पन्न संकट एवं अशान्ति के प्रति विद्रोह है : -

मानव ही है, सर्वाधिक मानव का भक्षक,
भौतिक मद से बुद्धि भ्रान्त युग जीवी मानव ।

इसी प्रकार 'रजत-शिखर' में विज्ञान एवं राजनीति की प्रक्रिया में अरविन्द दर्शन की बात कही गई है । उदयशंकर भट्ट के चार भाव नाट्य-मत्स्यगंधा, जिसमे पुरुष के ऊपर प्रकृति की विजय की कथा है - विश्वामित्र, जिसमें तप और भोग का संघर्ष है - राधा -जिसमें नारी मनोविज्ञान का पूर्ण निरूपण है, तथा कालिदास, जिसमें उनकी कृतियों की काव्यात्मक परिव्याख्या है - अधिक प्रसिद्ध है ।

धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' आधुनिक युग की एक उपलब्धि कही जा सकती है । इसमें लेखक ने महाभारत के युद्ध के उपरान्त की घटनाओं को अपने नाटक का विषय बनाया है - और उनके माध्यम से आधुनिक युग की युद्धोत्तर कालीन मानव सभ्यता के खोखलेपन और आदर्शहीन मूल्यों को प्रतिध्वनित किया है -

युद्धोपरान्त

वह अन्धा युग अवतरित हुआ,
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ-
आत्माएँ सब विकृत हैं ।
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की,
पर वह भी उलझी है, दोनों पक्षों में ।
(सिर्फ कृष्ण में है साहस, सुलझाने का)
शेष अधिकतर है अंधे

पथ भ्रष्ट, आत्महारा विगलित ।
अपने अन्तर की अंध गुफाओं के वासी,
यह कथा उन्हीं अंधों की है ।

भारती पर अति यथार्थवादी कला का प्रभाव है । सात्र, रोटा और एक लाइन के शिल्प, पिकासों और पाल्कली के चित्र, ज्वायस के उपन्यासों की भाँति भारती ने युद्ध की विभीषिका का अंकन किया है -

यहीं पृथ्वी पर विकलांगों का देश भी है,
जहाँ मनुष्यों की शक्तियाँ पूर्णतः ।
विकसित नहीं हो पातीं,
अन्धे, लूले, बहरे लँगड़े, कोढ़ी,
चारों ओर कराहने की आवाजें ।

भाव और तकनीक की दृष्टि से मौलिक प्रयोग यद्यपि आधुनिक नाट्य साहित्य की विशेषता है, परन्तु एक बात स्मरणीय है कि उन्होंने पूर्ववर्त्ती परम्परा के समान अभिनेयता की उपेक्षा नहीं की है, वरन् आधुनिकतम उपकरणों के माध्यम से उसे और प्रभावशाली बनाने में समर्थ हुए हैं ।

सन्दर्भ

1. 'A human personality is built up of numerous entities as I1, I2, I3 and so on. I is not 'I' be cause I consist of several I's. In practice we may treat 'I' as consisting of three I's. Therefore I=X/3. The first is reason the second is emotion, and the third is eternal.' **-World Drama-A. Nicoll, page 919**
2. 'In place of natural impression the essential expression was substituted, in place of the mirror the symbol. Expressionism was less concerned with object and things in themselves than with their significant value. In constrast to much modern art, it would destroy the objective figure in the search for inner expression or would deform it by emphasizing, only separate and powerfully expressive features. **-European Art-198.**
3. "In it (Surrealism) the world of the subconcious the dream-like and the absurd, freed from reason's control and from aesthetics and morality is expressed." **-European Art, 216.**

◆ ◆ ◆

हिन्दी साहित्य का इतिहास-एक प्रारूप

इस कथन ने प्रायः अब एक कहावत का रूप धारण कर लिया है, कि प्राचीन भारत में इतिहास लिखने की कोई परम्परा ही नहीं,[१] परन्तु इतिहास शब्द स्वय ही बहुलांश में तात्विक वाद-विवाद का विषय बना हुआ है, ऐसी स्थिति मे साहित्य का इतिहास किस ओर दिशा निर्देश करे- यह प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए ही नहीं वरन् साहित्य के इतिहास मात्र के लिए विचारणीय है ।

इतिहास शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद[२] में प्राप्त होता है । शतपथ ब्राह्मण,[३] जैमिनीय वृहदारण्यक[४] तथा छान्दोग्योपनिषद में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । वैदिक साहित्य में अन्वाख्यान और इतिहास का भिन्न प्रकार की कृतियो के रूप में स्फुट निर्देश है । इसके पश्चात् तो इतिहास-पुराण और आख्यान के भेद स्पष्टतः बताए गए हैं । भारतीय इतिहास के संबंध में जो प्रश्न वाचक चिह्न लगाया जाता है वह बहुलांश में इसलिए कि उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण नितान्त मौलिक है । उनके अनुसार अर्थ, काम, मोक्ष से जो समन्वित हो वही इतिहास संज्ञा पाने का अधिकारी है ।[६] इस पुरुषार्थ चतुष्ट में मानव-सभ्यता का प्रत्येक क्षेत्र अर्न्तमुक्त हो जाता है । मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की कथा कहने वाला इतिहास आधुनिक काल में अब जाकर प्रचेष्ठित हो रहा है । उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य विद्वानो का ऐसे इतिहास से अपने यहां परिचय नहीं था । यद्यपि सिद्धान्त है जो दृष्टान्तो के माध्यम से शिक्षा देता है ।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही इतिहास संबंधी पाश्चात्य दृष्टिकोण मे क्रातिकारी परिवर्तन दृष्टिगत होता है । सन् १९०३ में जे० बी० बेरी ने बड़ी दृढता के साथ प्रतिपादन किया "इतिहास एक विज्ञान है, न उससे कुछ कम न ज्यादा"- इसका विरोध भी तुरन्त ही हुआ । प्राकृतिक दार्शनिकों का विचार था कि इतिहास विज्ञान से बहुत कम है, और साहित्यकों का विचार था कि इतिहास विज्ञान से बहुत अधिक है । इस तरह जो त्रिकोणात्मक गत्यावरोध उत्पन्न हो गया, वह आज भी दूर नहीं हो सका है ।

वस्तुतः प्राचीन भारतीयों द्वारा लिखित साहित्येतर इतिहास में कालानुक्रम का कोई अभाव नहीं है, भले ही वह संदिग्ध हो । कालानुक्रम का वास्तविक अभाव तो साहित्यिक इतिहास में ही है[७] । इस तथ्य के कारण रूप में कुछ बातें कही जाती है एक तो प्राचीन साहित्य लेखक विशेष की रचना के रूप में ज्ञात न होकर वश सम्प्रदाय अथवा किसी प्राचीन ऋषि के नाम से प्रसिद्ध है, बाद में भी लेखक अपने नाम के स्थान पर अपने वश का नाम ही निर्दिष्ट करते रहे दूसरी बात है एक ही

लेखक के एक से अधिक नामों का प्रचलन, तीसरे कृति स्वामित्व के प्रति अतिशय उदासीनता तथा निर्लिप्तता ।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों तथा लेखकों के कालानुक्रम की अनिश्चतता कुछ अंशों में ही वास्तविक अनिश्चयता है । जिस साहित्य का इतिहास अनेक सहस्त्र वर्ष व्यापी हो और जिसकी रचना भूमि पर अगणित बर्बर आक्रमण होते रहे हो उसके कालानुक्रम की अनिश्चयता अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती । उससे भी अधिक कठोर सत्य तो यह है कि भारतीय साहित्येतिहास के तिथि क्रम की उन पाश्चात्य विद्वानों ने जाने अनजाने अनिश्चित तथा संदिग्ध बनाने में योग दिया जिनके प्रति हम इसलिए सदैव कृतज्ञ रहेंगे कि उन्होंने अपने से पहले के विदेशी शासकों की तरह यहां के साहित्यिक अवशेषों को नष्ट करने के बदले उसका अध्ययन संरक्षण और मुद्रण किया तथा अधिक से अधिक जो अनुचित किया वह यह कि उन्होंने अपने देशों के संग्रहालय समृद्ध बनाए । किन्तु साथ ही जब वितंरनित्ज कहते हैं "The safest dates of Indian history are those which we do not get from the Indians themselves," और विश्वासी तिथियों के लिए हमें यूनानी और चीनी यात्रियों का भरोसा करना चाहिए, तो ये समस्या को और भी उलझा देते हैं ।

प्राचीन इतिहास की विपुल सामग्री किवदन्तियों तथा लोक कथानको मे लिपटी रहती है- इस सत्य को जो भुलाया जा रहा है उसका परिणाम भी हम भुगत रहे हैं । उसके अतिरिक्त प्राचीन साहित्य के इतिहास की विपुल सामग्री प्राचीन सुभाषित संग्रहों में वर्तमान है जिनका मूल्य इस दृष्टि से आंका ही नहीं गया है । ये संग्रह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा प्रयुक्त अर्थ में कविवृत्त संग्रह ही है परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है, कि ऐसे सरोजों को हिन्दी की तरह इतिहास का रूप प्रदान करने वाले आचार्य संस्कृत को नहीं मिले ।

बारहवीं शताब्दी के पूर्व कवीन्द्र वचन समुच्चय[८] जिसमें संकलित पॉच सौ से अधिक छन्दों के रचयिताओं में से कोई भी ईसवी की पहली शताब्दी के बाद का नहीं है-[९] तेरहवीं शती के प्रारंभ में श्रीधर दास द्वारा संकलित सदुक्तिकर्णामृत,[१०] जिसमें चारसौ पचासी कवियों के विभिन्न विषयक छन्द हैं, इसी शताब्दी के मध्य के अल्हण की सुभाषित मुक्तावली[११] चौदहवी शताव्दी के मध्य की शार्ङ्गधर पद्धति, पन्द्रहवीं शताब्दी की सुभाषित मुक्तावली, जिसमें तीन सौ पचास से अधिक कवियो के छन्द हैं- सुभाषित ग्रन्थों में संस्कृत साहित्येतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

पालि में भी साहित्येतिहास के विषय में प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है । उदाहरण के लिए चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के धम्म कित्ति महासामी के सद्धर्म-संग्रह के नवम् अध्याय में एकाधिक पूर्ववर्ती लेखकों और उनकी कृतियो का उल्लेख मिलता है । इसी प्रकार पालि के दीपवंश आदि अन्य दशाधिक वंश ग्रन्थो मे बौद्ध साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण आचार्यों के नाम और उनकी कृतियों

के विवरण प्राप्त होते हैं । प्राकृत के सुभाषित संग्रहों में भी प्राकृत के अगणित गौण और विस्मृत प्रायः कवियों की रचनाओं के उदाहरण प्राप्य हैं । हाल की सत्तसई मे जिन कवियों के उद्धरण संग्रहीत हैं उनकी संख्या एक सौ बारह या तीन सौ चौरासी बताई जाती है । इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कवियों के नामोल्लेख भी मिलते है, जिनकी आज कोई रचना प्राप्त नहीं होती इसी प्रकार अथवा इससे भी अधिक महत्वपूर्ण सामग्री अपभ्रंश में उपलब्ध होती है । धवल कवि ने अपने हरिवंश पुराण मे अनेकानेक प्राग्भावी कवियों तथा उनकी कृतियों का उल्लेख किया है । नयनन्दी के सकल विधि निधान मानक खण्ड काव्य में संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेको प्राचीन और समकालीन कवियों की नामावली प्राप्य है । बाद के कवियों में तो यह प्रवृत्ति और भी बहुलता से प्राप्त होती है । उदाहरण के लिए अपभ्रंश के उत्तरकाल के कवि धनपाल के बाहुवलि चरित खण्ड काव्य की वह सूची है जिसमें कवि ने अपने से पूर्व काल के अनेक दर्शन व्याकरणादि के विद्वानों और कवियों का उल्लेख किया है, जिनके साथ उनके ग्रंथ भी उल्लखित हैं ।

हिन्दी साहित्येतिहास का शिलान्यास करने का श्रेय निःसन्देह गार्सा-द-तासी को है ? और उसका बहुत कुछ महत्व इसी कारण है, वैसे उसमे हिन्दी-उर्दू कवियों के विवरण मात्र है । उसके वर्गीकरण में फ्रेन्च वैदुष्य स्पष्ट ही परिलक्षित होता है, वह बात दूसरी है कि हिन्दी कृतियों के काम चलाऊ विवरण तक के अभाव में, वर्गीकरण का कोई सम्यक् प्रयास संभव भी नहीं था, जिसके कारण तासी को वर्ण क्रमानुसारी विवरण से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा । इसके पश्चात ही शिव सिंह सरोज[१२] का नाम आता है, जिसे कविवृत्त वर्णन कहकर परिगणित किया गया है ।

इतिहास कहलाने जैसा इसमें विशेष कुछ नहीं है पर ग्रियर्सन के इतिहास के लिये इसने न केवल पृष्ठभूमि ही बनाई वरन् सामग्री भी संजोई यह तो मानना ही पड़ेगा ।

विवरणों तथा तिथियों सम्बन्धी सरोज का अधर्मण होने पर भी ग्रियर्सन का इतिहास क्रियंदश में ही सही युग विभाजन पृष्ठभूमि निर्देश, सामान्य प्रवृत्ति निरूपण, तुलनात्मक आलोचना एवं मूल्यांकन विषयक प्रयासों तथा विवेचना की साहित्यिकता के कारण, यदि हिन्दी का प्रथम इतिहास माना जाए तो उचित ही है ।

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित साहित्यिक इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी शव्द सागर की विशद भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया । साहित्यिक इतिहास का विभावन इन पंक्तियों में वड़ी निश्चयात्मकता के साथ व्यक्त हुआ है - "जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चय है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है । आदि से अन्त तक इन्ही चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुये साहित्य परम्परा के साथ उनका दिखाना ही साहित्यिक इतिहास कहलाता है । जनता की चित्तवृत्ति बहुत

कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है, अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ साथ आवश्यक होता है ।'' अपने सिद्धांत के निर्वाह करने में भी शुक्ल जी समर्थ सिद्ध हुए हैं, परन्तु फिर भी अनुपात की दृष्टि से उसका स्वल्पांश ही प्रवृत्ति-निरूपण-परक है, अधिकांश विवरण प्रधान ही है और वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसके लिये उनका मुख्य आधार विनोद है, जिसके लेखक मिश्र बंधुओं पर उन्होंने अनावश्यक रूप से कटु व्यंग किये हैं ।

शुक्ल जी के बाद जो अधिकांश साहित्यिक-इतिहास लिखे गए, उनमे अधिकांश का सांचा तो वही है जो शुक्ल जी का था, साथ ही साथ सामग्री भी बहुत कुछ वही है । केवल कुछ इतिहास अपनी मौलिकता रखते हैं, जिनमें हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास, (पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी) का प्रमुख स्थान है ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका के द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का कार्य विराट स्वरूप में चल रहा है - अन्य प्रयत्न भी हो रहे हैं । परन्तु अनुसंधान के मूल तत्व उनसे पीछे छूटे जा रहे हैं । मैं जो कुछ भी सोच सकी हूं । वे कुछ बिन्दु विचार प्रस्तुत हैं ।

(१) इतिहास कथन में केवल परिश्रम होता है, व्यक्तित्व का अभाव होता है । इतिहास ग्रन्थ जीवनी की भांति केवल परिचयात्मक ग्रन्थ नहीं होता है वरन् वह ऐसे प्रबुद्ध चिन्तन का परिणाम है जो पाठकों में भी प्रबुद्ध चिन्तन को जगा सकें । शुक्ल जी का व्यक्ति उनके इतिहास में स्पष्ट झलकता है, पर बाद में इस प्रकार के कृतित्व का लोप हो गया ।

(२) हिन्दी साहित्येतिहास की काल विभाजन प्रणाली बहुत दोषपूर्ण होती है । कोई भी साहित्यिक विधा अथवा प्रवृत्ति न तो अचानक ही उत्पन्न होती है न नष्ट । यदि वैज्ञानिक शब्दावली में कहना चाहें तो वह केवल रूप बदलती है । युग निर्माता तिथियों का भी कोई ठोस आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है । वस्तुत इतिहास का अध्ययन समानान्तर रेखाओं के माध्यम से ही करना चाहिये ।

(३) हिन्दी साहित्य के इतिहास की कहानी पांच हजार वर्ष पूर्व की हे उसी के संदर्भ में हिन्दी साहित्य को देखना होगा किसी खण्ड के रूप में नहीं । इसी तथ्य को भुलाने के कारण इतिहास ग्रंथों में चिन्तनीय भूलें हुई हैं ।

(४) एक विवादास्पद स्थिति इतिहास के विस्तार को लेकर है, आदिकाल में हम प्राकृत, अपभ्रंश राजस्थानी, गुजराती, मैथिली सभी रचनाओं को समेट लेते हैं भक्ति काल में इतिहास की धारा बृज और अवधी में घूमती है रीतिकाल बृज तक सीमित है और आधुनिक काल केवल खड़ी बोली को लेकर चलता है । इतिहासकार की हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में अपनी निजी मान्यताएं नहीं होती लेकिन उस सीमित दृष्टिकोण को अपनाकर यह तथ्य भुला देते हैं कि बृजभाषा फिर सूर को जन्म दे सकती है अवधी में फिर तुलसी जायसी गूंज सकते हैं नी से

मीरा के स्वर उभर सकते हैं, मैथिली में विद्यापति की कुहकनि गूंज सकती है । जब तक विभिन्न भारतीय भाषाओं अथवा कम से कम हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं को समकक्ष रखकर- ऐतिहासिक श्रंखला की दृष्टि से निरपेक्ष विवेचन नहीं होता तब तक शुद्ध इतिहास की सृष्टि संभव नहीं ।

(५) शुक्ल जी का युग की परिस्थिति एवं उसकी साहित्यिक प्रतिक्रिया पर अटूट विश्वास था, और वह विश्वास परम्परा के रूप में इस प्रकार व्याप्त हो गया है कि प्रत्येक साहित्यिक उत्क्रान्ति का मूल हम विदेशी आक्रमण में खोजने के अभ्यासी हो गये हैं । समाज साहित्य को प्रभावित नहीं करता ऐसी बात नहीं है, परन्तु साहित्य केवल उसकी नीरस अभिव्यक्ति है, यह मानने के लिये मैं तैयार नहीं हूँ।

(६) रचना से उसके रूप (Form) को पृथक नहीं किया जा सकता इस दृष्टि से ऐतिहासिक विवेचन नगण्य है । रास, चउपई, बारहमासा, झूलना, बिरहुली चाचर फाग आदि इस प्रकार के अनेक काव्य रूप हैं जो विवेचन की प्रतीक्षा मे है ।

(७) इतिहास सम्पूर्ण विस्तार का सर्वेक्षण अनुशीलन और मूल्यॉंकन है । शोध विस्तार के खण्ड-खण्ड का उद्‌घाटन और विश्लेषण करता है और आलोचना पथ चिन्हों पर प्रकाश केन्द्रित करती है । तीनों एक दूसरे के लिये आवश्यक और पूरक होते हुए भी स्वतंत्र महत्व के अधिकारी हैं ।

(८) साहित्येतिहास का विषय यदि विस्तार है तो महान लेखकों से अधिक उन गौणों का है, जिनसे विस्तार निर्मित होता है । हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इन महान गौणों की नितान्त उपेक्षा हुई है और इसका कारण यह है कि शोध ने अपने वास्तविक कर्तव्यों का पालन नहीं किया है । अधिकांशतः वह उन पथ चिन्हो पर ही सीमित रहा है, जो वस्तुतः आलोचना के विषय है ।

सन्दर्भ

(1) "History is the one weak point in Indian Literature. It is in fact non-existent. The total lack of historical sense is so characteristic, that the whole course of Sanskrit Literature darkened by the shadow of the defect, suffering as it does form an entire absence of chronology."
Macdonell, Sanskrit Literature, P.10."
Ancient India has be queathed to us historical works"
- - -Pargiter, Ancient Indian Historical Tradition P.2.

(2) 15, 6. 4, (3) 13 .4. 3. 12. 13.

4 2 4 16 4 12 5 11 (5 3 4 2

६. धर्मार्थ काम मोक्षाणा मुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्त कथायुक्त मितिहासं प्रचक्षेत ।। महाभारत

7. "It is much better to recognise clearly the fact that for the oldest period of Indian literary history, We can give no certain dates and for the later periods only a few .....Even important literary works, differ, not indeed by years and decades but by whole centuries, if not even by one or two thousand years "
... . A History of Indian Literature First part introduction. PP. 25, 26. 1927

(8) Biblotheca Indica 1912

(9) A History of Sanskrit Literature Keith

(१०) सं० रामावतार शर्मा लाहौर १६३

(11) A History of Sanskrit Literature Kieth. P. 222

(12) Late P. Peterson, Bombay, Sanskrit Series 37, 1988.

(13) History dela Literature Hindoni Hindustanee 1870-71
शिव सिंह सरोज १८८३.
The Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan.1889.

साहित्येतिहास-लेखन : दिशा, दृष्टि एवं संभावना

इतिहास-लेखन एक न समाप्त होने वाली प्रक्रिया है क्योंकि वह इतिहास पुरुष की अनुवर्तिनी है । यह सच है कि इतिहास लिखने की अपेक्षा इतिहास बदलना और बनाना अधिक महत्वपूर्ण होता है, परन्तु इतिहास-लेखन केवल अतीत का कथन ही नहीं होता, वह युग के लिए एक नवीन दिशा उद्‌घाटित करता है, मूल्यों के संयोजन की प्रक्रिया में, सभी कुछ को पुनर्व्यवस्थित करता है, नवीन व्याख्यायें प्रस्तुत करता है । इतिहास लेखन के मूल में प्रायः प्रमुख तत्व होते है । नवीन सामग्री का प्रकाशन, पुरातन सामग्री के सम्बन्ध में नवीन खोज और प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी नये प्रयोग । यहाँ एक बात, जो मैं समझती हूँ, सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और जिसकी बहुत उपेक्षा की गई है, वह है मूल्यों का संयोजन । इसके बिना मानविकी इतिहास लिखा ही नही जा सकता और साहित्य का तो बिल्कुल भी नहीं, साहित्य सम्पूर्ण मानव की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों का कलात्मक संश्लेषण है, इतिहास लेखन के सम्बन्ध में मूल्यों की उपेक्षा किसी हद तक खतरनाक भी साबित हो सकती है । हमारे युग का यह दायित्व है कि 'वे' अपनी साजिश में सफल न हो सकें ।

साहित्य का इतिहास-लेखन कुछ महत्वपूर्ण कारणों से अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करता है और इस दृष्टि से साहित्य की परिभाषा का सवाल इतिहास की सतह से जुड़ा हुआ है । इतिहास किस साहित्य का इतिहास है ? अथवा इतिहास मे किस साहित्य को स्थान दिया जाना है और किस आधार पर ? इस सम्बन्ध मे पहला तरीका तो यह अपनाया जाता है कि साहित्य की सीमा महान् ग्रंथों के साथ बाध दी जाती है । श्रेष्ठ कलात्मक अभिव्यक्ति एवं सुस्पष्ट अभिव्यंजना उन ग्रंथो के लिए जरूरी है जिन्हें इतिहास की श्रंखला का तथ्य स्वीकार करना है । परन्तु ललित साहित्य के इतिहास को यदि महान् ग्रंथों तक ही सीमित कर दिया जाए तो इससे साहित्यिक विधाओं के विकास को और सच कहें तो साहित्यिक प्रक्रिया को भी समझा नहीं जा सकेगा । इससे सामाजिक, भाषाई, वैचारिक पृष्ठभूमि और ऐसी परिस्थितियां तो धुंधली हो ही जाती हैं जिनसे साहित्य प्रस्फुटित है, साथ ही होता यह है कि उसमें इतिहास-दर्शन और ऐसे ही दूसरे विषयों में घोर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को स्थान दे दिया जाता है ।[1]

सामान्य साहित्य और रचनात्मक साहित्य, दोनों का ही माध्यम भाषा है, परन्तु उसमें अन्तर हैं साहित्यकार भाषा का प्रयोग उसी तरह करता है जैसे मूर्तिकार पत्थर का चित्रकार रेखा और रग का एव सगीतकार नाद का करता है

यहां भी एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है । कलाकृति से हटकर रंग और पत्थर, प्रवृत्यात्मक नहीं होते, वे अपनी ओर से कलाकार को निर्देश नहीं देते । इसके विपरीत भाषा यद्यपि साहित्य के माध्यम के रूप में ग्रहण की जाती है परन्तु उसकी प्रकृति प्रवृत्यात्मक होती है, वह कवि को निर्देश भी देती है । भाषा स्वयं में जीवन्त होने के कारण अपना विशेष दबाव डालती है । दूसरा तथ्य यह है कि भाषा स्वय संस्कृति का एक अंग और परम्परा की वाहक है । वह संस्कृति का स्थूल उपादान न होकर उसकी सक्रिय शक्ति है । भाषा और संस्कृति में एक अटूट सम्बन्ध है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता । एक अन्य आधार पर भी भाषा अन्य कलाकृति से अलग रहती है । रंग और पत्थर स्थूल एवं अव्यवस्थित रूप में रहते हैं और किसी कलाकृति में उपादान-रूप में प्रयुक्त होते समय भी 'कलात्मकता' रंगों और पत्थरों के आयाम में बंधी होकर भी अपने गुणों से मुक्त रहती है । लेकिन साहित्य के माध्यम के रूप में जिस भाषा को कलाकार अपनाता है वह न तो स्थूल होती है न अव्यवस्थित ही । भाषा अभिव्यक्ति के ध्वनिस्तर पर भी विशेष व्यवस्था की माँग करती है और प्रतीक स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की अपेक्षा रखती है । रेनेवेलेक ने साहित्यिक भाषा और रोजमर्रा की भाषा में व्यवहारिक भेद किया है ।[२]

उनके मतानुसार जो हमें किसी निश्चित वाह्यक्रिया के लिए प्रेरित करती है उसे हम या तो कविता मानने से इन्कार कर देते हैं या मात्र तुकवन्दी कह बैठते हैं । सच्ची कविता हमें वहुत सूक्ष्म गति से प्रभावित करती है - फिर भी सबसे अच्छा यही है कि केवल उन कृतियों को साहित्य माना जाए जिनमें सौन्दर्यात्मक प्रयोजन साधन होता है ।

अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर भी रचनात्मक साहित्य सामान्य साहित्य से पृथक होता है । काव्य में अनुभूति का भावात्मक स्तर अनिवार्य है, वैचारिक अथवा दार्शनिक चिन्तन भी अनुभूति के माध्यम से ही व्यक्त होता है । अभिव्यक्ति का आधार भी रचनात्मक कल्पना होती है जो अन्ततः अनेक रूपो मे फलीभूत होती है । उद्देश्य एवं लक्षणबिन्दु एक होने पर भी प्रक्रिया में अन्तर होता है । वस्तुतः साहित्य एक द्विमुखी प्रक्रिया है और दोनों तरफ आनन्द से जुडी है । यह एक वहुत बड़ा अन्तर है जो रचनात्मक साहित्य और सामान्य साहित्य मे पाया जाता है । इन्हीं कारणों से साहित्य का इतिहास भाषा के इतिहास से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है, वैट्स्ज का तर्क है, 'मेरी मान्यता यह है कि किसी कविता पर पड़ी हुई युग की छाप का कारण लेखक नहीं होता उस युग की भाषा होती है। मेरे विचार से कविता का असल इतिहास उन परिवर्तनों का इतिहास है, जो उत्तरोत्तर काल की कविता की भाषा में आयें ।[३]

स्पष्ट है कि इस तर्क में औचित्य होते हुए भी सन्तुलन का अभाव है । भाषा और साहित्य का सम्बन्ध द्वंद्वात्मक होता है । स्वयं साहित्य ने भाषा के विकास को बहुत अधिक प्रभावित किया है

ज्ञान किसी न किसी दृष्टि से सापेक्ष्य होता है । व्यक्ति-निरपेक्ष इतिहास एवं इतिहास-दर्शन की कल्पना नहीं की जा सकती । कार्ल पियर्सन का यह सुझाव है कि विज्ञान को पद्धति की दृष्टि से परिभाषित करना चाहिए न कि परिणामों के आधार पर । वैज्ञानिक निष्पक्षता किसी वैज्ञानिक की व्यक्तिगत देन नहीं है वरन् वैज्ञानिक पद्धति की सामाजिक विशेषता का परिणाम है । इसका अर्थ है कि वैज्ञानिक पद्धति को ही निष्पक्ष मानकर हम मूल्य-विहीनता की अवधारणा को सामाजिक विज्ञानों में ला सकते हैं । इसके विपरीत गोल्डनर ने पद्धतिशास्त्र को भी मूल्यांकन ही कहा है, उसका कथन है कि सामाजिक विज्ञान मूल्यरहित नहीं हो सकते ।

दृष्टिकोण की सबसे पहली समस्या तो तथ्यों के चुनाव के अवसर पर ही आ खड़ी होती है । तथ्य असीमित हैं और मानवीय पहुँच के बाहर हैं, उनका चुनाव और संयोजन दोनों ही लेखक के दृष्टिकोण के अन्दर आ जाता है । जिस इतिहास की बात कही जाती है या जिसे हम स्वीकार करते हैं वह तथ्यात्मक नहीं होता वरन् निर्णयात्मक होता है । अतः इतिहास को हम मात्र अतीत का अध्ययन नहीं कह सकते । यह अध्ययन सदैव वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है और उसी के द्वारा अतीत की परम्पराओं का मूल्यांकन होता है । महान् इतिहास वे ही हैं जो वर्तमान के सन्दर्भ में लिखे गये हैं और भविष्य के लिए संकेत प्रस्तुत करते है । इस दृष्टि से सभी इतिहास वर्तमान के इतिहास हैं । इतिहास के तथ्य, एक टोकरी मे रखी हुई मछलियों की तरह नहीं हैं वरन् वे एक विशाल, कभी-कभी अकूत सागर में तैरने वाली मछलियों की तरह हैं और इतिहासकार की पकड में क्या आता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह समुद्र के कौन से किनारे को चुनता है और कौन से साधन प्रयुक्त करता है । यह चुनाव भी इस बात पर निर्भर करता है कि वास्तव मे उसे किस प्रकार की मछलियों की आवश्यकता है ।

तथ्यों के साथ-साथ हमारी पद्धति एवं शब्दावली भी हमारे दृष्टिकोण मे प्रभावित होती है । विभाजन एवं वर्गीकरण ऐसे गुण हैं जिनके अभाव में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग हो ही नहीं सकता और ये गुण भी हमारी विचारधारा से प्रभावित होते हैं । इतिहास और ऐतिहासिक विज्ञान में यह एक मुख्य अन्तर होता है । वैज्ञानिक तथ्यों का प्रयोग सामान्यकृत निष्कर्षों के लिए करता है इसके विपरीत इतिहासकार सामान्यीकरण का प्रयोग उन तथ्यों की व्याख्या के लिए करता है जिससे कि वह स्वयं सम्बन्धित होता है ।

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्येतिहासों मे, जो सबसे पहले विदेशियों द्वारा लिखे गये, स्वभावतया साम्राज्यवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है । उनका उद्देश्य स्पष्ट था और उसकी पूर्ति के लिए तथ्यों की विकृति, अत्युक्ति, अवहेलना और कभी-कभी कल्पना के काम लेने में भी संकोच नहीं किया गया है । यद्यपि भारतीय इतिहास से अन्वेषण और अनुसंधान में जो उन्होंने कार्य किया है वह [illegible] रहेगा फिर भी भारतीय जीवन की [illegible] ओं को [illegible] भारने विभेदा का गहगई म

रेखांकित करने तथा आत्मसुख और मोहनिद्रा में निमग्न रहने वाले गुणों की प्रशसा करने में उन्होंने अपनी जाति के प्रति अपने सामयिक कर्तव्यों को खूब निभाया।

जब राष्ट्रीय इतिहास-रचना के प्रयोग आरम्भ हुए, तब भी तथ्य निरूपण और सत्यान्वेषण सम्भव न हो सका क्योंकि भारतीय इतिहासकारों को विदेशियो द्वारा आरोपित लांछनों के निराकरण की चिन्ता अधिक थी। फलतः एकता, मैत्री और सहयोग का समर्थन करने वाले तथ्यों की अतिरंजना तथा इनके विपरीत तथ्यो की अवहेलना स्वाभाविक हो गई।

इस प्रकार साहित्य के उपकरण तो अनुसंधान और अनुशीलन के विषय है, तथा उनका विन्यास और नियोजन वैज्ञानिक पद्धति की अपेक्षा रखता है। परन्तु इस क्रम में उसकी व्याख्या और परिभाषा के नये दृष्टिकोण की प्राप्ति के बिना नया इतिहास नहीं लिखा जा सकता। वस्तुतः साहित्य के इतिहास का वही दृष्टिकोण सार्थक हो सकता है जो जीवन के स्थायीमूल्यों के द्वारा समर्थित हो और उन मूल्यो को युगानुकूल रूप और जीवन दे सकने की उसमें सामर्थ्य हो। जीवन के मूल्यो का युगानुकुल रूप मानव की अनुभूति, चिन्ता और यदि कह सकें तो, साधना, से सम्बन्धित विविध क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम प्रगति के संघात के द्वारा निर्धारित होता है। अतः इतिहासकार के लिए उस प्रगति तथा उन मूल्यो के निहितार्थ को समझना आवश्यक है। परन्तु साहित्येतिहास के सही ऐतिहासिक दृष्टिकोण के निर्माण में उसके साथ-साथ उन नवीकृत शाश्वत सिद्धान्तों का भी महत्वपूर्ण योग होना चाहिए जिन्हें प्राचीन सिद्धान्तों और साहित्य के नवीन आवश्यकताओं के समन्वय द्वारा विकसित किया गया हो। वस्तुतः इतर ज्ञान-विज्ञान की मानवतामूलक उपलब्धियाँ साहित्य में उसके अपने नियमों और सिद्धान्तों के अधीन ही व्यक्त होती हैं। शर्त यह है कि ये नियम और सिद्धान्त रूढ़िगत न हों, युग जीवन को व्यक्त करने वाले साहित्य से ही उन्हें निकाला गया हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे साहित्य के स्थायी सिद्धान्तों के विपरीत होगे। जिस प्रकार सौन्दर्य अनेक माध्यमों के द्वारा, अनेक रूपों में व्यक्त होते हुए भी अपनी भावात्मक एकता को अक्षुण्य रखता है उसी प्रकार सौन्दर्याभिव्यक्ति के सिद्धान्त भी अनेक शब्दावलियों और अनेक शैलियों में व्यक्त होकर भी मूलतः एक रहते हैं। अतः साहित्य को जो इतिहासकार शाश्वत सत्य के अविरोधी युगसत्य को जितना ही आत्मसात् करके उसे शाश्वत सौन्दर्य के सिद्धान्तों के अविरोधी युगीन सिद्धान्तों से समन्वित करने में सफल हो सके उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण उतना ही सार्थक होगा।

साहित्येतिहास की अवधारणाओं में इधर जो उथल-पुथल हुई उसमें एक नयी शरारत पेश की जा रही है और वह यह कि साहित्य का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। इसके कारणों की खोज करते हुए ज्याँ ब्रांड कोटियस ने लिखा है कि समकालीन उदासीनता का एक कारण साहित्येतिहास का वह रूप भी है जिसका वर्तमान से वर्तमान की चेतना और सवेदनशीलता से कोई सम्बन्ध नही

होता बल्कि वह केवल अतीत की घटनाओं और तथ्यों का पुंज मात्र होता है । (Jean Brand Corstius N.F.H. 1970. No.1) अब इस तरह के भ्रम एवं अतिरिक्त कथनों की गुंजायश नहीं है । अतीत और वर्तमान को पृथक कालखण्डों में देख पाना दृष्टिदोष है, इतिहास की अनिवार्य दुर्बलता नहीं । क्षणवादी चिन्तन इतिहास को उधेड़ने का कितना ही प्रयत्न करे, साहित्येतिहास भविष्य को घटित करने का सार्थक मार्ग है ।

सन्दर्भ

१. साहित्य सिद्धान्त (अनुवाद) पृ. २६
२. आलोचना, अंक ५६८, पृ. १२
3. Charles A, Beard, written History as an Act of Faith, P 31
4. Carr. P. 31
5. Michel H. Black, New Literary History No. 3, 75

इतिहास दर्शन के सन्दर्भ में साहित्य विश्लेषण

इतिहास दर्शन के सन्दर्भ में साहित्यविश्लेषण की मूल समस्या है ऐतिहासिक मूल्यों की उद्‌भावना और उनके परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध साहित्य का श्रृखलागत कालानुक्रम में मूल्यांकन । हमारे युग की सबसे बड़ी समस्या मूल्यान्वेषण की है इसीलिए हमारे साहित्येतिहास की मूल समस्या भी मूल्यों के स्थापना की है ।

साहित्य की परिभाषा मूलतः तीन आधारों पर की जा रही है । पहला आधार उद्‌देश्यमूलक है । साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति की खोज का आधार भी यही है । स-हित अर्थात् 'हित की भावना के सहित' 'सहित्य भावः साहित्यं' । कवीन्द्र रवीन्द्र ने साहित्य को इसीलिए द्वन्द्वों के बीच सामंजस्य विधान करने वाली शक्ति के रूप में देखा है । दूसरा आधार माध्यम-मूलक है । शब्द और अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने वाली रचना साहित्य है, यह धारणा अभी भी किसी-न-किसी रूप मे प्रतिबद्ध है । विल्हण ने किसी भाषा-विशेष के समस्त ग्रन्थ-समूह को साहित्य की सज्ञा दी है । पाश्चात्य शब्द 'लिटरेचर' इसी अर्थ का वाहक है । संस्कृत अलंकारिको ने काव्य की परिभाषा भी इसी रूप में की है । तीसरा आधार है विपयवस्तु । ज्ञान की महान परम्पराओं को वहन करने वाले साधन को साहित्य की संज्ञा दी गई । इनसाइक्लोपीडिया के "सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति" के अर्थ में हडसन के 'युग विशेष को जागृति एवं स्फूर्ति प्रदान करने' वाले साधन के अर्थ में, अथवा महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'संचित ज्ञान राशि के' अर्थ में, तथा गुलाबराय के 'कल्याणविधायिनी ज्ञान राशि' के अर्थ में बार-बार इसी तथ्य की ओर संकेत है ।

इस प्रकार के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में कल्पनात्मक एवं ललित साहित्य की पहचान संभव नहीं होती । कल्याणप्रद लिखित एवं ज्ञान से पूर्ण साहित्य, जरूरी नही कि वास्तविक अर्थों में साहित्य हो ही । इस दृष्टि से संस्कृत का 'काव्य' शब्द अधिक सटीक है जिसमें सभी विधाओं का समावेश किया गया है । परन्तु आधुनिक युग मे उसका रूढ़ सम्बन्ध केवल कविता तक है । वस्तुतः अनुभूति, वस्तु, अभिव्यंजना, माध्यम एवं लक्ष्य-सभी स्तरों पर साहित्य की सत्ता वांङ्मय से पृथक है ।

साहित्य की परिभाषा का सवाल, इतिहास से एक दूसरी सतह पर भी जुड़ा हुआ है । इतिहास किस साहित्य का इतिहास है ? अथवा इतिहास में किस साहित्य को स्थान दिया जाना है और किस आधार पर ?

इस सम्बन्ध में पहला तरीका तो यह जाता है कि साहित्य की सीमा महान ग्रन्थो से बाँध दी जाती है श्रेष्ठ एव सुस्पष्ट

अभिव्यंजना उन ग्रन्थों के लिए जरूरी है, जिन्हें इतिहास की श्रृंखला का तथ्य स्वीकार करना है । परन्तु ललित साहित्य के इतिहास को यदि महान ग्रन्थों तक ही सीमित कर दिया जाए तो इससे साहित्यिक विधाओं के विकास को, और सच कहे तो साहित्यिक प्रक्रिया को भी समझा नहीं जा सकेगा । इससे सामाजिक, भाषाई, वैचारिक और ऐसी दूसरी परिस्थितियाँ तो धुँधली हो ही जाती हैं जिनके अनुकूल साहित्य की रचना की जाती है, साथ ही होता यह है कि उनमें इतिहास, दर्शन और ऐसे ही दूसरे विषयों में घोर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को स्थान दे दिया जाता है ।[1]

सामान्य साहित्य एवं रचनात्मक साहित्य, दोनों का ही माध्यम भाषा है, परन्तु उसमें अन्तर है । साहित्यकार भाषा का प्रयोग, उसी तरह करता है जैसे मूर्त्तिकार पत्थर का, चित्रकार रेखा और रंग का एवं संगीतकार नाद का करता है। यहाँ भी एक स्पष्ट अन्तर है । कलाकृति से हटकर रंग और पत्थर प्रवृत्यात्मक नही होते वे अपनी ओर से कलाकार को निर्देश नहीं देते । इसके विपरीत भाषा, यद्यपि कविता में माध्यम के रूप में ग्रहण की जाती है पर उसकी प्रवृत्ति प्रवृत्यात्मक होती है, वह कवि को निर्देश भी देती है । भाषा स्वयं में जीवन्त होने के कारण अपना विशिष्ट दबाव डालती है ।

दूसरा तथ्य यह है कि भाषा स्वयं संस्कृति की वाहिका है, एक विशिष्ट अग है वह संस्कृति का स्थूल उपादान न होकर उसकी सक्रिय शक्ति है । भाषा और संस्कृति में एक अटूट सम्बन्ध है इससे इनकार नहीं किया जा सकता है ।[2]

एक अन्य आधार पर भी भाषा अन्य कलाक्षेत्रों के उपादानों से अपने को अलग कर लेती है । कलाकृति से अलग रहकर रंग और पत्थर स्थूल एव अव्यवस्थित रहते हैं और किसी कलाकृति में उपादान-रूप में प्रयुक्त होते समय भी 'कलात्मकता' रंगों और पत्थरों के आयाम में बंधी होकर भी उनके अपने गुणो से मुक्त रहती है । लेकिन कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को कवि अपनाता है, वह न तो स्थूल होती है, न अव्यवस्थित ही । भाषा, अभिव्यक्ति के ध्वनि स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की अपेक्षा रखती है । अपनी इसी व्यवस्था-पद्धति के आधार पर एक भाषा अन्य भाषाओं से पृथक होती है । रेनेवेलक ने साहित्यिक भाषा और रोजमर्रा की भाषा में व्यवहारिक भेद किया है । उनके अनुसार जो हमें किसी निश्चित बाह्यक्रिया के लिए प्रेरित करती है उसे हम या तो कविता मानने से इन्कार कर देते हैं या मात्र तुकबन्दी कह बैठते हैं । सच्ची कविता हमें बहुत सूक्ष्म गति से प्रभावित करती है । - - - -फिर भी, सबसे अच्छा यही है कि केवल उन कृतियों को साहित्य माना जाए जिनमें सौन्दर्यात्मक प्रयोजन साधन होता है, जबकि इसी के साथ हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि वैज्ञानिक पुस्तको, दार्शनिक-निबंधो, राजनैतिक पम्फलेटों और धार्मिक प्रवचन-ग्रन्थ जैसी कृतियों में जिनका प्रयोजन सर्वथा भिन्न होता है और जिन्हें सौन्दर्य से कोई सरोकार नहीं होता शैली और सपुजन जैसे कुछ ललित तत्व हो सकते है[3]

अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर भी रचनात्मक साहित्य सामान्य साहित्य से पृथक होता है । काव्य में अनुभूति का भावात्मक स्तर अनिवार्य है, वैचारिक अथवा दार्शनिक चिन्तन भी अनुभूति के माध्यम से ही व्यक्त होता है । अभिव्यक्ति का आधार भी रचनात्मक कल्पना होती है जो अन्ततः अनेक रूपों मे फली-भूत होती है । उद्देश्य एवं लक्ष्यविन्दु एक होने पर भी प्रक्रिया में अन्तर होता है । वस्तुतः साहित्य एक द्विमुखी प्रक्रिया है और दोनों तरफ आनन्द से जुड़ी हुई है । यह एक वहुत वड़ा अन्तर है जो रचनात्मक साहित्य और सामान्य साहित्य में पाया जाता है ।

इन्हीं कारणों से साहित्य का इतिहास भाषा के इतिहास से घनिष्ट रूप से जुड़ा हुआ है । बैट्सज का तर्क है 'मेरी मान्यता यह है कि किसी कविता पर पड़ी युग की छाप का कारण लेखक नहीं होता, उस युग की भाषा होती है । मेरे विचार से कविता का असल इतिहास उन परिवर्तनों का इतिहास है, जो उत्तरोत्तर काल की कविता की भाषा में आए । सामाजिक और बौद्धिक प्रवृत्तियों के दबाव से केवल ये भाषा के परिवर्तन ही पैदा होते हैं ।'[४] आगे उन्होंने यह सिद्ध किया है कि काव्य का इतिहास भाषा के इतिहास पर निर्भर करता है । इतना तो निश्चित ही है कि अंग्रेजी काव्य का इतिहास कम -से कम इलिजावेथ युगीन भाषा के चुलबुलेपन अठारहवीं शताव्दी की परिमार्जित स्पष्टता और विक्टोरिया युग की अंग्रेजी के अस्पष्ट विखराव के समानान्तर हुआ है । काव्य के इतिहास मे भाषाविषयक सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं । कार्ल वोसलर के अनुसार कुछ कालों के साहित्यिक इतिहास को भाषाई माहौल के विश्लेषण से अधिक नहीं तो कम-से -कम उतना लाभ तो होगा ही जितना राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों या देश की जलवायु के प्रचलित विश्लेषणों से होता है ।' स्पष्ट है कि इस तर्क में औचित्य होते हुए भी सन्तुलन का अभाव है । भाषा और साहित्य का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है । स्वयं साहित्य ने भाषा के विकास को बहुत अधिक प्रभावित किया है ।

साहित्य की स्पष्ट पहचान करने के वाद भी चुनाव की समस्या बनी ही रहती है । प्रारंभ से लेकर आज तक जो कुछ लिखा जा चुका है, उस सवका विवरण संकलन तो उसी नाम का अधिकारी होगा जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'कवि-वृत्त-संग्रह' कहते हैं, यद्यपि, अपने आप में यह प्रयास भी कम श्रम साध्य नहीं है । यहीं पर इतिहास-दर्शन के दृष्टिकोण का आयाम उदित होता है । ज्ञान किसी - न-किसी दृष्टि से सापेक्ष्य होता है । व्यक्ति निरपेक्ष इतिहास एवं इतिहास-दर्शन की कल्पना भी नहीं की जा सकती । कार्ल पियर्सन का यह सुझाव है कि विज्ञान को पद्धति की दृष्टि से परिभाषित करना चाहिए, न कि परिणामो के आधार पर । वैज्ञानिक दिनिष्पक्षता किसी वैज्ञानिक की व्यक्तिगत देन नहीं है, वरन् वैज्ञानिक पद्धति की सामाजिक विशेपता का परिणाम है । इसका अर्थ है कि वैज्ञानिक पद्धति को ही निष्पक्ष मानकर हम मूल्य हीनता की को सामाजिक विज्ञानो मे

साहित्य का इतिहास 'इतिहास धर्मा' होने पर भी एक और शुद्ध इतिहास की पद्धति से भिन्न हो जाता है, दूसरी ओर ललित साहित्य के इतिहास से भी अपने अस्तित्व को प्रथक कर लेता है । यहाँ भी मुख्य अन्तर भाषा के माध्यम के कारण ही है । ऐतिहासिक घटनाएँ, जो इतिहास के लिए तथ्य हैं, एक बार घटित होकर समाप्त हो जाती हैं और इतिहासकार को उन्हें प्राप्त करना पड़ता है उनका विश्लेषण करना पड़ता है, फिर अपनी व्याख्या के द्वारा उनका पुनर्गठन करना पड़ता है । बाबर का प्रथम युद्ध, इतिहास की कितनी ही महत्वपूर्ण घटना क्यों न हो, वह घटित हो चुकी है । हम तथ्यों के आधार पर केवल उसकी कल्पना कर सकते है, व्याख्या कर सकते हैं । इस दृष्टि से डब्ल्यू० पी० केर का यह कथन सही है कि साहित्य की वस्तुएँ सदा वर्तमान रहती हैं उनका इतिहास कभी हो ही नहीं सकता। साहित्य का इतिहास सही अर्थों में इतिहास नहीं है क्योंकि वह वर्तमान का-सर्वव्यापी वर्त्तमान का ज्ञान है । जो कुछ ऐतिहासिक और विगत है, उसमे, तथा उस चीज में जो ऐतिहासिक होते हुए भी, किसी-न-किसी प्रकार वर्तमान है अन्तर तो है ही। यहाँ साहित्येतिहास ललित कलाओं के समकक्ष आ जाता है, परन्तु भाषा का माध्यम ग्रहण करने के कारण वह पुनः विशिष्ट हो उठता है । ललित कलाएँ अपने विकास की प्रक्रिया में परिवर्तित नहीं होती हैं । अजन्ता की कला जो भी है वह अपने रूप में स्थिर है वह मुगल कला का रूप नहीं ओढ़ सकती ताजमहल को आधुनिक कला का रूप नहीं पहनाया जा सकता । परन्तु जीवन्त तरल, सामाजिक भाषा को माध्यम के रूप में ग्रहण करने के कारण साहित्य में इस प्रकार के विकास स्वयंभू होते है । विशेषतः प्राचीन साहित्य एवं मौखिक रूप से प्रचलित साहित्य के सम्वन्ध मे यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है ।

एक और दृष्टि से भी साहित्येतिहास और कला के इतिहास में अन्तर किया जा सकता है । कला में उद्भासित व्यक्तित्व, 'वैयक्तिक' नहीं 'सामूहिक' होता है । प्राचीन स्थापत्यकला के गौरवचिह्न, अपने निर्माताओं के नाम हमें नहीं वताते । इस प्रकार की कला किसी एक व्यक्ति की रचना हो भी नहीं सकती । इसी प्रकार विभिन्न चित्रकलाओं की विभिन्न पद्धतियाँ अपने रूप से पहचानी जाती है 'कर्त्ताओं' से नही। इसी कारण ललित कलाओं का इतिहास विशुद्ध शैलियों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । व्यक्तित्व-विहीन कृतियों को हम एक सामान्य 'रूप' या 'शैली' मे अर्न्तभूत कर सकते हैं । परन्तु यही वात साहित्य के लिए नहीं कही जा सकती । इसीलिए कुछ विद्वानों ने यह आरोप लगाया है कि साहित्य का अपना इतिहास होता ही नहीं, इतिहास तो साहित्य लिखने वालों का होता है। इस दृष्टि से साहित्येतिहास को कुछ अंशों में भाषा एवं दर्शन के इतिहास के समकक्ष रखा जा सकता है ।

इतिहास दर्शन के सन्दर्भ में साहित्य-विश्लेषण की कुछ और भी समस्याएँ हैं, जिनसे इतिहास-लेखक को जूझना होता है । उदाहरण के लिए साहित्य में सामान्य एवं विशिष्ट प्रतिभाओं की समस्या है । एक युग को हम एक व्यक्ति के माध्यम से जानते है परन्तु उस व्यक्ति का निर्माण भी तो युग ही करता है मध्यकालीन

पुनर्जागरण को हम तुलसी, सूर, मीरा और कबीर के नाम से स्मरण करते हैं । यहाँ यह सवाल उठाया जा सकता है कि क्या इतिहास का यह दृष्टिकोण उचित है ? किसी भी युग की कुछ उपलब्धियाँ होती हैं, जो एक लम्बी काल-प्रक्रिया के मानसिक सक्रमण के आधार पर अर्जित की जाती हैं । यह 'युगोपलब्धि' जो एक पूरे समाज वर्ग या समूह की देन होती है - बाद में - एक अतिमानव के साथ जुड़ जाती है। ऐसा कहा जाता है कि एक अतिमानव पूरी शताब्दी के मानसिक-तनाव और सामाजिक -विद्रोह के फलस्वरूप पैदा होता है । एक पूरी शताब्दी जब मानसिक खोखलेपन और युग संत्रास से गुजरती है और उसे लगता है कि पिछली मान्यताएँ मूल्य और संस्कार उसे बौद्धिक समाधान दे सकने में असमर्थ हैं, तो उसी विद्रोह की उपज एक व्यक्ति होता है, जो स्वयं उस परिवेश और खोखलेपन के तनाव से गुजर चुका होता है । अतिमानव तभी पैदा होते हैं जब उनकी समाज को आवश्यकता होती है यह एक निर्विवाद तथ्य है । इसके दूसरे छोर पर, गौंण लेखक की परिभाषा क्या है ? क्या वे जो एक ही कृति की रचना कर अमर हो गए ? अथवा वे जिन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया, अथवा वे जिन्होंने कलात्मक ऊँचाई का निर्माण किया ? ये सभी वर्ग महत् लेखकों के हैं । इस प्रकार के प्रसिद्ध लेखक अपना पृथक अस्तित्व प्रदर्शित करते हैं, युग का निर्माण वह पूरी परम्परा करती है जो उनके आगे या पीछे चलती है । इस प्रकार गौंण लेखक वे हैं, जो न तो अपने समय में, न उसके बाद ही पहचाने जाते हैं । वे समय की आवश्यकता से उत्पन्न होते हैं और उसमें अपना विशेष योगदान कर समाप्त हो जाते हैं । महान व्यक्ति की विशेषता यही होती है कि वह युग की माँग को सबसे पहले पहचान लेता है और जनशक्ति को उचित संघर्ष में सन्नद्ध कर देता है । परम्परा वह नही है जो हमारे पीछे विवशतापूर्ण स्थिति में खड़ी है, परम्परा वह है जो हमें विद्रोही बनाती है, जिससे हमें नवीन जीवन प्रारंभ करने की शक्ति मिलती है । परम्परा के पास तात्कालिक मानसिकता के समानान्तर शक्ति का होना आवश्यक है, तभी परम्परा में नये प्रयोग का सवाल उठाया जा सकता है । श्री नलिनविलोचन शर्मा ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न को सर्वप्रथम उठाते हुए लिखा है साहित्यिक इतिहास का विषय भी यदि विस्तार है तो महान लेखकों से अधिक महत्व उन गौणों (Minors) का है जिनसे विस्तार निर्मित होता है । हिन्दी साहित्य के इतिहासों में इन महान गौणों की उपेक्षा हुई है और इसका कारण यह है कि शोध ने अपने वास्तविक कर्तव्य का पालन नहीं किया है । वह उन पद-चिह्नों तक ही सीमित रहा है, जो वस्तुतः आलोचना के विषय हैं । यदि इसका उत्तर यह है - और नहीं हैं, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता - कि अभी तो पदचिह्न ही पूर्णतः उद्घाटित नहीं है, तो इतिहास को तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, जब तक शोध को अपना कार्य पूरा कर लेने का अवकाश नहीं मिलता ।'[६]

साहित्य-विवेचन की दूसरी प्रमुख समस्या जिसके चारों तरफ इतिहास घूमता है की है यह समस्या ह हिन्दी साहित्य मे तो

इस प्रकार की रचनाओं की एक सूची बनाई जा सकती है जिन्हें अप्रामाणिकता का इल्जाम लगाकर लगभग साहित्यक्षेत्र से बाहर ही कर दिया गया है । वस्तुत प्रामाणिकता की समस्या पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है । आलोचना की दृष्टि से और इतिहास की दृष्टि से । आलोचना की दृष्टि से किसी काव्य का मूल्यांकन उसकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के आधार पर नहीं किया जाता है । समीक्षा के अपने सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य होते हैं जो इन कृतियों की श्रेष्ठता का निर्धारण करते है । जैसा कि रेनेवेलेक ने कहा है 'हमें' यह नहीं भूलना चाहिए कि मात्र यह सिद्ध हो जाने के कारण, कि रचना बहुत बाद में लिखी गई है, आलोचना का मूलप्रश्न नहीं खत्म हो जाता । अठारहवीं शताब्दी में लिखी जाने के कारण ही चैटरसन की कविताएं अच्छी या बुरी नहीं हो सकती । यह एक ऐसी बात है जिसे वे लोग प्रायः भूल जाया करते हैं जो अपने नैतिक आक्रोश में ऐसी कृतियों पर घृणा बरसाने लगते हैं जो बाद की रचनाएँ सिद्ध हो जाती हैं, और उन्हें सदा के लिए उपेक्षित छोड़ देते हैं ।'[१०] दूसरी दृष्टि ऐतिहासिक की है । साहित्येतिहास का मुख्य कार्य-कारण श्रृंखला का निर्माण करते हुए किसी विशिष्ट युग, विधा अथवा धारा कार्य की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करना है । ये दोनों ही कार्य इस प्रकार की सभी संदिग्ध रचनाएँ कर सकती हैं, क्योंकि ये अपने युग की सच्ची रचनाएं हैं । उनमें उस समस्त युग का भोगा हुआ सत्य अंकित है । कभी-कभी इस तथ्य को भुला देने के कारण, वैज्ञानिकता की धुन में, साहित्येतिहास में अनर्थ हो गए हैं । यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करने योग्य है । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में सिद्ध-साहित्य को प्रायः यह कहकर स्वीकृत नहीं किया जाता, कि जिस युग की ये रचनाएं हैं वह काल अपभ्रंश का है यद्यपि ये संकलित बाद में हुई हैं । नाथ साहित्य के विषय में कहा गया है कि ये हैं तो हिन्दी के युग की रचनाएँ परन्तु इनकी भाषा का स्वरूप बहुत विकृत हो गया है, इसलिए इनकी विवेचना आदि काल में नहीं की जा सकती । अब,यहाँ समस्या उठ खड़ी होती है कि यदि रचनाकाल की प्रामणिकता का आधार है, तो नाथ साहित्य एवं रासो साहित्य को आदिकाल में स्थान मिलना चाहिए, यदि भाषा की प्रामाणिकता का आधार लिया गया है, तो सिद्ध-साहित्य को स्वीकार करना चाहिए । कहीं पर कोई तर्क अपनाया जाए, कहीं पर कोई, यह नितान्त अनुचित है । यदि भाषा के आधार पर रचना को परवर्त्ती माना जाता है तो अन्तर्विरोध उपस्थित होगा । वह रचना अपने युग के सन्दर्भ से कट जाएगी । भाषा की अर्वाचीनता के आधार पर ही यदि नाथ साहित्य को सत्रहवीं शताव्दी में रखे तो परम्परा-निर्माण में उसका योग किस प्रकार निर्धारित होगा ? इस आधार पर तो सभी रचनाओं के प्रतिलिपि काल को ही उनका साहित्यिक रचनाकाल मानना चाहिए। क्या ऐसा कभी हुआ है ? अथवा उसकी संभावना भी है ? इन्हीं अन्तर्विरोधो के आधार पर जिन वैज्ञानिक इतिहासों के ढाँचे खड़े किए जाते है, उनमें कहा जाता है कि हिन्दी के आदिकाल में केवल धार्मिक रास परम्परा मिलती है अन्य रचनाए प्रामाणिक नही है इस प्रकार का दृष्टिकोण ० ० के लिए स्वस्थ नही कहा जा सकता इन्ही पक्षा की ओर सकेत करत हुए

शर्मा ने लिखा है' जहाँ तक साहित्यिक मूल्यांकन, प्रवृत्ति निरूपण तथा परम्परा निर्धारण का प्रश्न है, जो साहित्यिक इतिहासकार के लक्ष्य होते हैं, ये काल उतने ही महत्वपूर्ण होते हैं जितना कि साहित्यिक महाकाव्य। वीरगाथाकाल की वीर या प्रेम गाथाओं का इसी दृष्टिकोण से अध्ययन होना चाहिए । जिन्होंने ऐसा किया है उन्होंने साहित्यिक इतिहासकार के दायित्व का पालन किया है ।'[११]

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य-विश्लेषण के सम्बन्ध में एक बात और भी है जिसकी प्रायः उपेक्षा की जाती है और वह है साहित्येतिहास का वर्गीय आधार। मात्र आलोचना के लिए हो-न-हो, साहित्यिक इतिहास के निर्माता के लिए वर्गीय जीवन दृष्टि की शुद्ध परख होना बहुत जरूरी है । मार्क्स से प्रेरित होकर काडवेल ने सर्वप्रथम काव्य अथवा कला के वर्गीय चरित्र का अध्ययन प्रस्तुत किया था । वस्तुतः वर्गहित से सम्बोधित विचार वैचारिकी को जन्म देते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति अन्ततः साहित्य में भी होती है । साहित्येतिहास में वर्गीय आधार की उपेक्षा करने से बहुत से भ्रमपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं । इस अवधारणा के अभाव में सामाजिक एवं साहित्यिक अन्तर्विरोधों की पहचान नहीं की जा सकती और इसीलिए शुक्ल जी को प्रत्येक 'युग' के बाद एक 'फु टकल' खाता भी खोलना पड़ा है । भक्तिकाल के लोकोन्मुखी यथार्थ और अलौकिकता में आश्रय लेने वाले आदर्श में अन्तर्विरोध था । तुलसी एवं कबीर, उसके दो पक्ष हैं । उनकी वर्गीय अवधारणाओं के आधार पर ही इसका अध्ययन किया जा सकता है । इसी प्रकार, इतिहासकार भी वर्गीय आधार से प्रभावित होता है । उसी आधार पर वह अपने लक्ष्य निर्धारित करता है, विषयवस्तु का चुनाव करता है एवं उसका मूल्यांकन करता है । फिर भी, वर्गीय आधार के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उसे अतिवाद तक घसीटना अनौचित्य होगा । किसी कलात्मक संरचना के अंग-प्रतिअंग में वर्गीय आधारों की खोज हास्यास्पद ही कही जाएगी ।

इतिहास की एक मुख्य प्रक्रिया काल निर्धारण की है, साहित्येतिहास भी उससे बच नहीं सकता । साहित्येतिहास में सबसे अधिक विवाद भी इन्हीं तिथियो को लेकर हुआ है । दस-पन्द्रह वर्ष, घटाकर या बढ़ाकर, मौलिकता के झंडे गाड़े जाते रहे हैं । साहित्येतिहास में कालानुक्रम के निर्धारण की आवश्यकता कई प्रकार की होती है, जैसे भाषा के उद्‌भव से सम्बन्धित, साहित्य के उद्‌भव से सम्बन्धित, किसी युग के आरंभ और अन्त से सम्बन्धित, विशिष्ट आन्दोलनो के जन्म एव समापन से सम्बन्धित एवं विभिन्न रचनाओं के रचनाकालों से सम्बन्धित । सोचने की बात यह है कि, क्या यह सम्भव है कि निरन्तर गतिशील काल को किसी एक बिन्दु पर संकेत करके बताया जा सके - यह वह बिन्दु है, जहाँ से इति गति का जन्म होता है । विकास की प्रक्रिया बहुत लम्बी होती है और उसके चरण निश्चित स्थानों पर चिह्न नहीं छोडते । कालानुक्रम का महत्व सापेक्षिक ही होता है, जिस प्रकार अंकों का क्रम है । हम दो को एक और तीन के सन्दर्भ के बिना समझ ही नही सकते हैं सदियो के प्रयास विकास के पश्चात ही कोई भाषा जन्म लेती है

कोई साहित्य अस्तित्व में आता है । कहा जा सकता है कि मात्रात्मक परिवर्तन का अन्तिम विन्दु गुणात्मक परिवर्तन बन जाता है । एक बिन्दु पहले तक वह जल है- और एक बिन्दु बाद बर्फ । परन्तु जल से वर्फ बनने की प्रक्रिया एक क्षण में नही हुई है, उसके पीछे सतत संघर्ष की एक पूरी परम्परा है ।

अतः साहित्येतिहास का कालानुक्रम व्यावहारिक और लगभग अन्दाज का होता है । उसका उद्देश्य चीजों को स्पष्ट रूप से पहचानना और नाम द्वारा स्मरण कराना है । किसी आन्दोलन को एक या दो वर्ष पहले या बाद का सिद्ध कर देने से उसके साहित्यिक महत्व पर विशेष प्रभाव पड़ने वाला नहीं है । किसी युग निर्माता कवि, लेखक की स्थिति दो-एक वर्ष आगे-पीछे होने से उखड़ती नहीं है । अतः यह मानकर चलना होगा कि तथ्यों की व्याख्या अनन्त है जो अभी तक है, वही हमारी वस्तु है कालानुक्रम का निर्धारण एक नितान्त आवश्यक किन्तु लचीली और व्यवहारिक प्रक्रिया है ।

सन्दर्भ

१. साहित्य सिद्धान्त (अनुवादित) पृ० २६
२. आलोचना, अंक ५, ६८. पृ. १२
३. साहित्य सिद्धान्त (अनु०) पृ. ३२
४. रेनेवेलक द्वारा उद्धृत, वही ।
5. Charles A, Beard, written History as an Act of Faith..
6. G. Barroclough, History in a changing world, p. 14
७. रेनेवेलक, साहित्य सिद्धान्त, पृ. ३५३
8. Car, What is history.
६. नलिनि विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ. ११६
१०. एम० डब्लयू, हॉल कम्पेनियन टु क्लासिकल टेक्ट्स.
११. नलिनि विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास दर्शन - पृ. २८६

◆ ◆ ◆

हिन्दी साहित्येतिहास में काल-विभाजन

एक्शन ने कहा था कि 'पूर्ण' इतिहास हम अपनी पीढ़ी में नहीं पा सकते किन्तु परम्परागत इतिहास के सम्बन्ध में अपनी राय दे सकते हैं । इसका मुख्य कारण, इतिहास के विकसित होते हुए स्वरूप के साथ, बारीक होती हुई दृष्टि और परिवर्तमान मूल्य-बोध है । इसीलिए साहित्येतिहास की सबसे बड़ी आवश्यकता अपने युग के मूल्यों के अनुसार अतीत को पुर्नव्याख्यायित करने की होती है । इतिहास स्वयं में जिस प्रकार एक अखड धारा है, उसी प्रकार इतिहास लेखन भी न समाप्त होने वाली प्रक्रिया है ।

इतिहास की व्याख्या का अर्थ है, इतिहास में किसी निश्चित व्यवस्था की खोज । इस प्रकार के ज्ञान की शक्ति दो प्रकार की योग्यताओं पर निर्भर करती है, प्रथम अतीत को समझने की शक्ति और द्वितीय भविष्य को संकेतित करने की समझ । दोनों ही इतिहासकार के दृष्टिकोण से प्रभावित होते हैं । इतिहासकार की मूल दृष्टि ही सम्पूर्ण संरचना का दिशा निर्देश करती है । व्यक्ति निरपेक्ष इतिहास-दर्शन न तो हुआ है और न हो सकता है । और यही कारण है कि वस्तुगत इतिहास दर्शन की बात करने वाले विज्ञान इतिहास की सत्ता और सामर्थ्य को ही नकारने की बात करने लगते हैं ।

पिछले पचास वर्षों में, जब से हमने इतिहास -दर्शन की समझ विकसित की है, सबसे अधिक वाद-विवाद काल विभाजन को लेकर किया गया है । यद्यपि इतिहास घटित होने की अखंड प्रक्रिया है, तथापि अध्ययन की सुविधा और व्यवहार के लिए, एक खंड को दूसरे से पृथक करके उसकी विशिष्टता पहचानने के लिए 'युग' की अवधारणा आवश्यक है । इतिहास में युग की अवधारणा एक तथ्य नहीं बल्कि उपकल्पना है, जो इतिहास के निर्माण में एक औजार का कार्य करती है । इसी प्रकार वर्गों एवं जातियों में इतिहास का विभाजन भी तथ्य नहीं धारणा है और धारणा सदैव आलोचना का विषय हो सकती है ।

'युग' की अवधारणा 'सम्पूर्ण' की अवधारणा है । यदि पुष्प का दृष्टान्त सामने रखें तो उसकी विभिन्न पंखुरियाँ, रंग, वर्ण एवं गंध मिलकर पुष्प का निर्माण करते हैं । उनसे पृथक अथवा उनमें से किसी एक में 'पुष्प' घटित होना संभव नहीं। इसके विपरीत पुष्प इन सभी वस्तुओं का जोड़ भी नहीं है, एक विशिष्ट संयोजन है, सम्पूर्ण संरचना है । यही स्थिति साहित्येतिहास में 'युग' की है, साहित्य के इतिहास में 'युग' विशेष की कल्पना उस आधार पर ही संगत सिद्ध हो सकती है जिसमे साहित्यिक आदर्श की कोई परिपाटी सर्वातिशायी हो साहित्य के इतिहास

का प्रत्येक युग स्पष्ट साहित्यिक युग न्यायशास्त्रीय वर्ग के समान नहीं होता । कोई साहित्यिक कृति ऐसे वर्ग का दृष्टान्त न होकर, वह अंश है जो दूसरी कृतियो के साथ-साथ युग की धारणा का अंग आधार बनती हैं । साहित्येतिहासों में युग विभाजन को लेकर अधिकांश वाद-विवाद इसलिए भी हुए हैं कि 'युग' और 'धारा' की अवधारणा एक साथ गड्ड-मड्ड कर दी गयी है ।

साहित्यिक धारा अतीत से वर्तमान की प्रगति प्रक्रिया का पुनर्निमाण करती है, जबकि युग विशिष्ट मूल्यों के आधार पर उस विशिष्ट काल का पुनर्विचार करते हैं । कहा जा सकता है कि धारा ऐतिहासिक है और युग समकालिक । यहां फिर सवाल उठता है कि क्या युग वास्तव में गतिशील नहीं होते स्थैतिक होते हैं ? क्या यह संभव है कि इतिहास की एक विशिष्ट शाखा साहित्येतिहास गतिशील बंनने की प्रक्रिया मे स्वयं रचना में समाविष्ट मूल्यों को विवेचन से बाहर कर दे ? विशिष्ट काल के विवेचन के लिए इस प्रकार के मूल्यों के औजार कहां तक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं ?

किसी युग विशेष के मूल्यों, स्तरों और रूढ़ियों की बनी-बनाई व्यवस्था हमें दी नहीं जाती । इतिहास की बनी-बनाई सामग्री नहीं मिलती, बल्कि इतिहास लेखक चुनाव कर, एक व्यवस्थित रूप-रेखा बनाता है । अतः युग एक स्थायी एव स्थैतिक धारणा नही है, वे काल-सापेक्ष्य हैं और उनकी स्थितियों को एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न नहीं किया जा सकता । ऐसा करना केवल इसलिए कठिन नहीं है कि एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है, बल्कि इसलिए भी कि एक क्रमशः दूसरे को मार्ग देता है । उनमें अन्तराल होता है और वे साथ-साथ नहीं रखे जा सकते । उनमे गुणात्मक एवं भावात्मक अन्तर होता है । 'युग' एक के पश्चात एक होता है परन्तु उस 'पश्चात्' का अर्थ निश्चित नहीं है । पश्चात (after) का तात्पर्य केवल बाद से ही नहीं, अन्तर से ही नहीं यह क्रम औ निरन्तरता का भी प्रतीक है। पश्चात् पूर्व के 'सापेक्ष में ही अर्थवान है । पूर्ण एवं सापेक्ष युग की अवधारणा में अन्तर केवल उसमें समानताओं और विभिन्नताओं का संगम मिलता है । वस्तुतः प्रत्येक युग ऐतिहासिकता के स्तर पर कुछ छोड़ता चलता है, भूलता चलता है और उसकी गतिशीलता जानने के लिए यह 'छोड़ने' की मात्रा नापना आवश्यक है ।

समय एक अमूर्त्त वस्तु है और उस समय की व्यवस्था हेतु तौथि क-पकड (क्रोनोलॉजी) एक अलग 'कोड़' है । सभी इतिहास लेखक क्रोनोलॉजी का आधार ग्रहण करते है और वह निर्मित की जाती है एक वर्ग की संख्याओं से जिसकी प्रत्येक घटना दूसरी को सन्दर्भ प्रदान करती है । 'युग' घटनाओं में सार्थक क्रम का निर्माण कर समय को अर्थवान बनाने का प्रयास करता है उसका नामकरण करता है, जिससे वह अन्य युगों से पृथक करके पहचाना जा सके । युग दो बार अतीत की ओर प्रस्थान करता है कालक्रम एवं घटनाओं की श्रृंखला के निर्माण के लिए एव स्वय अपने स्वरूप की सरचना के लिए इसलिए एक युग मे घटनाओं का

एक श्रृंखला होती है जो आवश्यक रूप से संख्याओं की तरह क्रमिक एवं अनुवर्ती नहीं होती है । कालिकवर्ग एवं 'युग' एक दूसरे को काटते भी हैं ।

व्यवहारिक रूप से साहित्येतिहास के काल-विभाजन के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं । पहली बात तो यही है कि युग की मूल-चेतना किस प्रकार निर्धारित की जाए ? प्रत्येक युग में धाराओं की द्वन्द्वात्मक स्थिति होती है । एक धारा ह्रासमान होती है, दूसरी विकासमान । जो चेतना आगे चलकर विकसित होती है- वही युग की मूल चेतना है, यह एक दिशा संकेत हो सकता है । चेतना से सम्बन्धित ही, समस्या जीवित और जड़ भाषा की है । क्या केवल जीवित भाषा पर ही युग-चेतना का प्रभाव पड़ता है, अन्य पर नहीं ? उदाहरण के लिए दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी-सभी में साहित्य लिखा गया तो किसके आधार पर युग की मूल चेतना का निर्धारण किया जाए ? तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात जीवित भाषा को काल का प्रतिनिधि माना जा सकता है । एक ही साहित्यिक युग में कई धाराएँ जीवित रह सकती हैं, परन्तु युग की मूल चेतना का प्रभाव साकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से सभी धाराओं पर आवश्यंभावी है । तभी हम उसे एक पृथक युग की संज्ञा दे सकते हैं ।

साहित्येतिहास लेखन पर जो विभिन्न आरोप लगाए गए हैं, उनका मुख्य आधार काल विभाजन की समस्या ही रहा है । यह बात बार-बार कही गयी है कि साहित्येतिहास का काल-विभाजन निरपेक्ष और पूर्ण होना चाहिए, उसका केन्द्र और कारण स्वयं साहित्य के बीच ही खोजे जाने चाहिए । परन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि जब साहित्य की सत्ता निरपेक्ष और तटस्थ नहीं हो सकती तब साहित्येतिहास का तो अस्तित्व ही काल के परिप्रेक्ष्य में है । अतः काल-विभाजन का अर्थ साहित्य को युग से काटना नहीं जोड़ना है ।

हिन्दी साहित्येतिहास के सम्बन्ध में यह स्वाभाविक ही था कि प्रारंभिक पुस्तकों में इस सम्बन्ध की खोज नहीं हो सकी । गार्सा -द-तासी की सामग्री को कालक्रमानुसार रखने की सुविधा ही प्राप्त नहीं हुई, और डॉ. ग्रियर्सन के प्रयास प्रारंभिक ही कहे जा सकते हैं । फिर भी कुछ ऐसे सन्दर्भ सूत्रों का प्रयोग उन्होंने किया है जिनका प्रभाव आगे चलकर शुक्ल जी पर पड़ा है । उदाहरण के लिए स्वर्ण युग, प्रेम कविता, कृष्णभक्ति काव्य एवं रीति-सम्प्रदाय ऐसे ही शब्द हैं । परिशिष्ट का संयोजन भी शुक्ल जी ने संभवतः ग्रियर्सन से प्रेरित होकर ही किया । मिश्रबंधुओं ने विनोद के लिए भी अपने ग्रन्थ को इतिहास का नाम नहीं दिया, परन्तु इतिहास-भावना का प्रयास उसमें परिलक्षित होता है । स्वयं लेखक ने अपने काल-विभाजन का आधार स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु उनके शीर्षकों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वर्गीकरण का आधार हिन्दी भाषा को बनाया है । इस दृष्टि से वे भी इस दृष्टिकोण के पोषक प्रतीत होते हैं कि साहित्य का इतिहास वस्तुत उसकी भाषा का ही इतिहास होता है विशेष विवरण सर्वज्ञात है केवल

कुछ नाम ही पर्याप्त होगें- जैसे आदि प्रकरण के अन्तर्गत हिन्दी की उत्पत्ति और काव्य-लक्षण (वैदिक समय से सं ७००) पूर्व प्रारंभिक हिन्दी, चंदपूर्व (सं ७०० से १२००) पूर्व प्रारंभिक हिन्दी-रासोकाल (सं १२०१-१३४७) उत्तर प्रारंभिक हिन्दी (स १३४८ से १४४४) पूर्व माध्यमिक हिन्दी (सं १४४५ से १५६०) फिर प्रौढ़ माध्यमिक प्रकरण में इसी प्रकार के विभाजन हैं । कहना नहीं होगा, भाषा पर दृष्टि केन्द्रित रखने के कारण युग का परिवेश इतिहास से कट गया है । विनोद की मुख्य उपलब्धि विपुल सामग्री-संकलन और आलोचना के प्रारंभिक प्रयास ही माने जाने चाहिए।

आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम काल-विभाजन पर गंभीरतापूर्वक विचार करके उसका स्पष्ट विभाजन किया और परिभाषित किया कि जनता की चित्तवृत्ति के साथ साहित्य का सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास है । अत उनके काल-विभाजन की मौलिक उपलब्धि थी साहित्येतिहास को परिवेश के साथ जोड़ देना और उसमें एक सार्थक कार्य-कारण-श्रृंखला की खोज करना । हिन्दी साहित्य का चतुर्कालीय काल-विभाजन कालजयी सिद्ध हुआ, इसका श्रेय भी शुक्लजी को ही है । उन्होंने दो आधारभूत सिद्धान्तों को मान्यता दी है, ग्रन्थों की सख्या और उनकी लोकप्रियता । आदि, मध्य जैसे अमूर्त्त शब्दों के स्थान पर उन्होने गुणात्मक नामों का प्रयोग किया है । इस प्रकार उनके काल-विभाजन का आधार दोहरा है । एक काल-सापेक्ष, दूसरा प्रवृत्ति सापेक्ष । पहले के आधार पर काल-विभाग है और दूसरे के आधार पर उनका नामकरण । नामकरण का आधार शुक्ल जी ने ग्रन्थ संख्या को माना था उसकी विवादात्मकता के साक्षी हम सभी हैं । किसी काल का नामकरण केवल इसलिए एक हो जाए कि दूसरे प्रकार की रचनाएँ संख्या मे - चाहे एक ही क्यों न हो - कम थीं, समझ में नहीं आता । विशेष रूप से प्राचीन साहित्य के क्षेत्र में जहाँ अनुसंधान के द्वारा नई-नई कृतियाँ प्रकाश में आ रही है, इस प्रकार के आधार को मान्यता दी भी किस प्रकार जा सकती है । शुक्ल जी शायद स्वयं इस पद्धति की कमजोरियों से परिचित थे इसलिए 'वीरगाथा काल' के अतिरिक्त अन्यत्र इसका प्रयोग नहीं किया और यह सभी जानते हैं कि 'वीरगाथा काल' नाम जितना अप्रमाणित सिद्ध हुआ उतना कोई अन्य नाम नहीं । इसी प्रकार लोक प्रसिद्धि का सिद्धान्त भी है जिसमें काव्यात्मक श्रेष्ठता का सिद्धान्त समाहित है। शुक्ल जी ने स्पष्ट रूप से यह कहीं नहीं बताया कि लोक प्रसिद्धि को नापा किस प्रकार जाएगा । यहाँ भी व्यक्तिगत मान्यताएँ और अभिरुचि ही प्रधान हो उठती है, फलस्वरूप सम्पूर्ण जैन बौद्ध-साहित्य धार्मिक साहित्य कहकर साहित्येतिहास मे क्षेत्र से निष्कासित कर दिया गया । नाथों और सिद्धों को उनकी मौलिक पृष्ठभूमि से काट दिया गया । भिन्न-भिन्न फुटकल रचनाएँ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं समझी गयीं क्योंकि उनसे किसी सुपुष्ट परम्परा का निर्माण नहीं होता । यह सत्य है कि शुक्ल जी के काल विभाजन का समर्थन भी खूब हुआ और विरोध भी दोनों उसकी शक्ति के ही प्रमाण माने जाने चाहिए और सबसे बडी बात तो यह कि उनके

इतिहास-सिद्धान्त, जीवन, जगत और साहित्य मंथन से उद्‌भूत हुए थे थोपे हुए अथवा चिपकाए हुए नहीं । उन्होंने इतिहास जुटाया ही नहीं जगाया भी है ।

शुक्ल जी के बाद कालविभाजन में मौलिक परिवर्तन बहुत कम हुए । वीरगाथा काल पर आपत्तियाँ उठाई गयी और समाधान प्रस्तुत किए गए । नामों में थोड़ा-बहुत रद्दोबदल हुआ, सनों और संवतों में आगा पीछा किया गया, पर मूल ढांचा वही रहा ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में एक नवीन युग अवतरित किया है । उनकी इतिहास दृष्टि वस्तुगत नहीं है । उन्होंने इतिहास के प्रवाह को एक बुद्धिगम्य, सोद्देश्य और सार्थक शक्ति के रूप में निरूपित किया है और इन सबमें उनकी मानवीय दृष्टि ही प्रधान हो उठती है । साहित्य का मूल उन्होंने साहित्य में कभी नहीं माना, सदैव जीवन को माना और जीवन की ही भाँति साहित्य के विकास में निरन्तरता स्वीकार की । वे विकासक्रम को इतिहास की गति में निहित मानते हैं और यह विकास मनुष्य को ऊँची-से-ऊँची भूमिकाओं की ओर ले जाता है । ऐतिहासिक दर्शन एवं लेखन को नवीन मोड़ देने के बावजूद भी द्विवेदी जी ने काल विभाजन की समस्या पर पृथक से विचार नहीं किया है । यद्यपि उन्होंने शुक्ल जी द्वारा प्रदत्त कार्य-कारण के अति सरलीकरण का विरोध कर ऐतिहासिक परम्परा के सिद्धान्त को मथकर नए क्षेत्र अन्वेषित किए, परन्तु नामकरण की व्यवहारिक उपयोगिता ही स्वीकार की । शायद उन्हें मुख्य एतराज 'वीरगाथा' काल से था जिसका सप्रमाण, सतर्क विवेचन कर उन्होने साहित्येतिहास क्षेत्र से निष्कासित कर दिया ।

हिन्दी साहित्येतिहास में काल-विभाजन पर अत्यधिक वाद-विवाद होने का परिणाम यह हुआ कि इतिहास लेखन एक खतरनाक मोड़ पर आ खड़ा हुआ । एक ओर तो 'कान से ठीक सुनाई नहीं देता इसलिए कान काट दो वाली कहावत चरितार्थ हुई है । विद्वानों का जो वर्ग इतिहास लेखन को पूरी तरह से नहीं उखाड़ सका उसने कम से कम कालों और युगों की अवधारणा को नकारने का पूरा प्रयास किया है । इस प्रकार के इतिहास ग्रन्थों में आदि मध्य और आधुनिक शीर्षक देकर केवल धाराओं के विवरण समेटने का ही प्रयास किया गया है । इन धाराओं के अन्तर्गत भी काल-सापेक्ष्य विकास क्रम की उपेक्षा की गयी है । लगभग सात सौ वर्ष के लम्बे कालखंड में कोई भी काव्यधारा' विना किसी परिवर्तन के जो इतिहास की अनिवार्य शर्त है - चलती रही यह विचार ही इतिहास-विरोधी विचार है । इस प्रकार के इतिहासों में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के रूप में कुछ पन्ने अलग से चिपका दिए जाते हैं, कार्यकारण की द्वन्द्वात्मकता जिनसे स्पष्ट नहीं होती । दूसरा वर्ग वह है जो शुक्ल जी के वर्गीकरण में किंचित परिवर्तन करके, यानी वीरगाथा काल के स्थान पर आदिकाल नाम देकर, उसी का फैलाव और भराव करता है, इस पृथा का विस्तार सहयोगी इतिहास लेखन में हुआ है । इन इतिहासों को इतिहास की सामग्री तो माना जा सकता है इतिहास नहीं निश्चित

दिशा और सुस्पष्ट वैचारिक दर्शन के अभाव में इन पुस्तकों का कोई व्यक्तित्व नही है और इतिहास व्यक्तित्व विहीन नही होता ।

एक तीसरा वर्ग है - निश्चित रूप से यह सहयोगी इतिहास लेखकों का वर्ग नहीं है - जिन्होंने कुछ नए नाम सुझाने का प्रयास किया है । संक्षेप में एक दृष्टि उन पर डाल लेनी उचित है । स्नातक सत्यकाम वर्मा ने साहित्येतिहास के काल-विभाजन का आधार युग के प्रति कवि की दृष्टि को माना है इस आधार पर नाम दिए हैं - लोकोन्मुखी साहित्य का युग सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग काव्य-विलास अथवा रीतियुग, नवदृष्टियुग अथवा भावनात्मक विद्रोह का युग और यथार्थ युग । इस प्रकार के काल विभाजन वस्तुतः पुराने रूपों का ही नया परिवर्तन है । डॉ. रामखेलावन पाण्डेय ने अपने लघु इतिहास ग्रन्थ में विभाजन तो नया नही किया- क्योंकि कालखंड प्रायः वही खो गए हैं - नामकरण अवश्य नया किया है। उदाहरण के लिए संक्रमण काल (सन् १०००- १४००) संयोजनकाल (१४०१-१६००) संवर्धनकाल (१६०१-१८००ई.) संचयनकाल (१८०१-१६००) सम्बोधिकाल (१६०१-१६४७) संचरण काल (१६४७-) इस प्रकार के 'सकार' में मूलसूत्र छूट जाता है और यह स्पष्ट नहीं होता कि यह सब किस 'वृत्ति' के साथ घटित हो रहा है । डॉ. शंभूनाथ सिंह ने साहित्यिक कालखंडों को इतिहास के युगों से जोड़ा है । मूलतः प्राचीन एवं आधुनिक दो खंडों में बॉटकर उन्होंने नाम दिए हैं - उद्‌भवकाल- सामन्तीवीरयुग (राजपूतकाल, विकासकाल -पतनोन्मुख वीरयुग (सल्तन काल) उत्कर्ष-काल, विकासोन्मुख साम्राज्ययुग, ह्रासकाल- पतनोन्मुख साम्राज्यकाल । इस प्रकार के विभाजन से तो यह ज्ञात ही नही होता कि उसका साहित्य से कोई सम्बन्ध भी है । प्राचीनकाल में विकास, उत्कर्ष जैसे नाम सापेक्षिक हैं और जब तक उनका केन्द्र न ज्ञात हो, उनका कोई अर्थ नहीं होता। इसी प्रकार आधुनिक काल, किस रूप में वर्तमान स्थिति तक पहुँचा है, उस पर भी प्रकाश नहीं पड़ता । अन्तिम सामंजस्य युग की स्थिति तो नितान्त काल्पनिक है, यदि व्यवहार में लोकतांत्रिक समाजवादी युग का कहीं अस्तित्व हो तो ।

ऐसा लगता है, हिन्दी साहित्येतिहास में काल-विभाजन की सारी गड़बडी वस्तुतः इसलिए हुई है कि हम उसे मूल्यों से संयुक्त नहीं कर सके हैं और यही कारण है कि इतिहास में मानव चेतना की ऊर्ध्वमुखी विकास रेखा को स्पष्ट भी नही कर सके हैं । विकास को मूल्यों से संयुक्त करने के पश्चात ही युग अपनी सम्पूर्ण रूप-रेखा में उभरकर सामने आ सकते हैं ।

एक अन्तिम बात और । ये मूल्य इतिहास पर लादे गए, या कोलॉज शैली में चिपकाए गए मूल्य नहीं हो सकते । ये इतिहास मंथन का परिणाम होंगे । केवल सिद्धान्तों की चर्चाकर जो वैचारिक का आरोपण करते हैं, उनकी चर्चा यह नहीं करती । क्योंकि इतिहास दर्शन वही हो सकता है जो लेखन की प्रक्रिया से उभरता और आकार ग्रहण करता है । इस प्रकार हम घूम कर फिर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हमारे इतिहास की पूर्णता इतनी ही है जितनी हमारे युग की

केवल इसमें इतना और जोड़ना चाहूँगा कि इतिहास की पूर्णता यही होगी कि हम युग की पूर्णता हासिल कर सके ।

सन्दर्भ

1 E H Car, What is History, P. 60
2. The Disciplines of Criticism, P 478
३. रेनेवेलक, साहित्य सिद्धान्त (अनु) पृ. ३५३
४. ग्रियर्सन, हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, अनु० पृ. ४८
५. मश्रबंधु विनोद, भूमिका पृ. २
६. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, भूमिका पृ. ५
७. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. १०-११
८- सत्यकाम वर्मा, हिन्दी साहित्यानुशील न, पृ. ५३
६. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
१०. डॉ. रामखेलावन पांडेय, हिन्दी साहित्य का नया इतिहास पृ. ३०-१२
११. डॉ. शंभूनाथ सिंह, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका पृ. ३०

◆ ◆ ◆

हिन्दी साहित्य-शिक्षण - उद्देश्य और समस्याएँ

शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की माँग कई वर्षों से और कई स्तरो पर उठाई जा रही है - पर उसमें कोई बुनियादी परिवर्तन हुआ हो ऐसा दिखाइ नहीं पड़ता । साहित्य-शिक्षा समूची शिक्षण-व्यवस्था का एक अंग है और कोई कारण नही है कि उसे अलग करके विपरीत परिस्थितियों में देखा जाए । फिर भी विश्वविद्यालयी साहित्य-शिक्षण की कुछ अपनी भी समस्याएँ हैं जिन्हें अब और अधिक नकारना संभव नहीं है । मैं यहाँ कुछ प्रश्न उठाना चाहूंगी । आज की परिस्थितियों में कोई भी शिक्षा निरुद्देश्य नहीं हो सकती, साहित्य-शिक्षा के सन्दर्भ में भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है उसका उद्देश्य क्या है ? जिस तरह इंजीनियरिंग कालेज इंजीनियर बनाते हैं, मेडिकल कालेज डॉक्टर, ट्रेनिंग कालेज प्रशक्षित अध्यापकों का उत्पादन करते हैं - क्या उसी तरह साहित्य-शिक्षण से कवि, लेखक अथवा समीक्षक उत्पन्न किए जा सकते हैं ? क्या वर्तमान साहित्य शिक्षा विद्यार्थियों को किसी विशिष्ट व्यवसाय के लिए प्रशिक्षित करती है ? इसका सीधा-सादा उत्तर नकारात्मक है । हम ऐसा कुछ नहीं कर पाते, न ही कर सकते ।

शिक्षा का एक दूसरा आयाम है- उसे जीवनानुभव से जोड़ना सामाजिक परिवेश की समझ पैदा करना, परिस्थितियों को अनुकूल कर अपने को उपयोगी बनाना । क्या आज की शिक्षा व्यवस्था अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर रही है ? यह तो शायद एक बहुत बड़ा प्रश्न है, लेकिन यदि इसे इतने तक सीमित कर दिया जाए- क्या आज की साहित्य-शिक्षा इस कसौटी पर खरी उतरती ? दो-चार वर्ष पढ़कर और पाँच वर्षों में शोधपारंगत हो जब साहित्य का विद्यार्थी जीवन संग्राम में आ खड़ा होता है, तो कक्षाओं में बडे मनोयोग से समेटे गए रसानुभव के क्षण, वायवी आदर्श और दर्शन के सिक्के एक-एक करके उसका साथ नही छोड जाते हैं ? वर्तमान पाठ्यक्रम और शिक्षण-पद्धति की बात यदि एक क्षण के लिए भुला भी दी जाए- तो भी- महिमामय साहित्य की जो विगमत उसका पाथेय होती है- वही उसे भीतर ही भीतर खोखला बना एकाकी और पराएपन की भावना नही उत्पन्न करती ? पुराने प्रकार की साहित्य शिक्षा का आधार था व्यक्ति आदर्श। एक साधु पुरुप सहृदय गृहस्थ का निर्माण-जिसके लिए व्याकरण, धर्मशास्त्र एव काव्यशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी । आज यह बुनियादी ढॉचा मौजूद नहीं है । आज अगर हिन्दी -साहित्य शिक्षा का कोई उद्देश्य हो सकता है 'तो वह है विद्यार्थी में साहित्यशंसा द्वारा उसकी संवेदना और प्रत्यर्क्षाकरण को प्रशिक्षित करे ताकि वह आधुनिक जीवन की जटिलताओं को झेल सके लेकिन मास्टर आफ आर्टस

कलानिष्णात बनने की प्रक्रिया को ढोता हुआ छात्र 'न कोई हार न ही जीत से गौरवान्वित हो, अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल' के साथ दीनविनत हो 'अखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी' के रस पर उतराता 'तर्यौना' के श्लेष पर न्योछावर हो, साकेत की उर्मिला 'के' उत्तर में करुणा को रुलाता 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के अन्तरिक्ष में विहार कर इस चौराहे पर आता है जहाँ-

यह तो कविता नहीं है

यह केवल खून सनी चमड़ी

उतार लेने की तरह है

यह कोई रस नहीं ज़हर है - - ज़हर

फिर मैं क्या लिखूँ ? आह मेरी भाषा ।

मैं तेरा सुन्दर उपयोग किस तरह करूँ ? **दूधनाथ सिंह**

तो उसकी शास्त्रीय रसमनोज्ञता मुँह के बल गिर पड़ती है । जाहिर है, हमारी साहित्य शिक्षा हमें जीवनानुभव से भी नहीं जोड़ती, वह वर्तमान समस्याओं से काटकर हमारे चारों तरफ रस का एक दायरा जरूर बना सकती है, बनाती है, यह मैं नहीं कहती । यह जो साहित्य शिक्षा हमें दी गई है और जिसे अविकल रूप में उड़ेलकर हम अपनी गुरुदक्षिणा किश्तों में चुकाते रहते हैं वह न तो नई संवेदना को गहरा और सार्थक बनाती है और न ही उन्हें जिन्दगी में उतारती है ।

पुराने विद्वानों ने साहित्य के उद्देश्यों की बड़ी चर्चा की है, कम-से-कम वे अपने समय के जागरूक पहरुए थे इसमें सन्देह नहीं । शायद साहित्य शिक्षा का उद्देश्य उन्हीं में खोजा जा सके । यदि उन सबको समन्वित करे तो दो आधार मूर्तिमान होते हैं :- १. आनन्द, २. उपदेश

वर्त्तमान परिस्थितियों में इन उद्देश्यों की कोई निरपेक्ष सत्ता हो सकती है ऐसा नहीं दिखायी पड़ता । आनन्द का अभिप्राय यदि हम साधारणीकरण से ले तो इस त्रिकोण के मूल में कृति होती है, एक भुजा पर अध्यापक और दूसरी भुजा पर छात्र । क्षण-क्षण बदलती हुई परिस्थितियों और तनावों से गुजरते हुए अध्यापक ओर एक भिन्न-परिवेश की देन छात्रों में सदैव रस का समंजन हो और [illegible] बजने की आवाज के साथ ही- या अधिक से अधिक पांच मिनट बाद तक - एक रस से दूसरे रस में सन्तरण होता रहे यह स्वीकार करना हास्यास्पद है । घंटा बजता है - कक्ष में वीर रस के स्वर गूंज उठते हैं और अगर रस का पूर्ण परिपाक हुआ तो बात अनुभावों तक पहुँचनी चाहिए - बेचारा अध्यापक इसका भोग करने के लिए तैयार नहीं होगा । घन्टा बजता है, रस बदलता है कबीर के षटचक्र अध्यापन का अद्‌भुत अर्थ-शीर्षासन कर जिस रस की खोज में अध्यापक विद्यार्थियों के साथ भटकता है, अथवा जब वह विनत वाणी में कहता है 'मो सम कौन अधम खल कामी' तो वह किस हद तक अनकिए पाप के लिए' ग्लानि अनुभव करता है और किस हद तक विद्यार्थी को करवाने में समर्थ होता है कहने की बात नहीं । घंटा फिर बजता है और कम से कम पन्द्रह गज पच्चीस सीढ़ियाँ चढ़ हाँफते हाँफते वह

फिर कहना शुरू कर देती है हाँ तो सूर्य के पांच पर्यायवाची लिखो 'मित्र दिनकर रवि- - - । स्थिति इससे भी खराब हो सकती । यह तो तथाकथित ईमानदार अध्यापकों की बात है, जो सचमुच पढ़ाना चाहते हैं और यथाशक्ति प्रयास करते हैं । जिनके पास राम-बाण औषधियाँ और तावीजी सफलता के तंत्र-मंत्र है उनकी बात क्या कहिये । वैसे तो हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं या अलीबाबा के चालीस चोर हैं, जैसा कि लोग कहते हैं और तिस पर ताना यह, कि एक हजार रुपए तनख्वाह के हकदार हैं ।

उपदेश की स्थिति भी इससे बेहतर नहीं है । यदि 'उपदेश' शब्द पर इतना ही जोर है और यह माने बिना काम नही चल सकता, तो अन्य वस्तुओं की तरह उपदेश भी गत्यात्मक होते हैं । मध्ययुगीन अन्तर्विरोधों में जन्मा और इन्द्रजालिक वातावरण में विकसित मानस के उपदेश- आज के युग में जीवन को संबल नहीं प्रदान कर सकते । परिणाम यह होता है कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा और बाहरी जीवन में सृजन और पाठन के बीच संवाद टूट जाता है और कभी-कभी तो एक विरोधी मोर्चा खड़ा हो जाता 'युद्धं देहि' की मुद्रा में । फलतः साहित्य-शिक्षा विशुद्ध पुस्तकीय अध्ययन से आगे नहीं बढ़ पाती और उसकी सामाजिक दीक्षा चटखारे आवेश से अधिक गहरी नहीं हो पाती ।

वस्तुतः साहित्य की शिक्षा एक प्रकार की स्वशिक्षा ही है जो संवेदना को गहरा तथा प्रत्यक्षीकरण को व्यापक बनाती है । यह मनोलोक को सौन्दर्य-वृत्ति से समृद्ध करती हैं, आत्म-निर्माण करती है अतः इसके सामाजिक प्रयोजन अनुषागिक हैं । तथ्यों को याद करना तथा अनुभव को भोगना ये दोनों एक ही चीजे नही हो सकती । हम यह कैसे पता लगा सकते हैं कि साहित्य ने छात्र पर क्या और कितना गहरा असर डाला - जबकि इस बात का पूरा-पूरा जोखिम है कि बाहरी दुनिया मे आते ही उसके यह अनुभव भी उसका साथ छोड़ जाएँ । संभवतः इसीलिए ग्राहम ह्यूम ने साहित्य-शिक्षा में उद्देश्य के सवाल को उछालते हुए लिखा है, कुछ लोगो की सर्वोच्य कोटि की विद्वता और निर्णय । किन्तु कुछ लोग कोई समस्या नही है। तो फिर उनके लिए क्या करें ?

जिनकी अविशेषीकृत सामान्य बुद्धि है और जो मानवतावादी शिक्षा के उचित पात्र हैं ? हम यह प्रत्याशा करते है कि साहित्यिक शिक्षा उनकी मानवीय संवेदना और सहानुभूति का दायरा बढ़ाए, उनके वर्ग तथा देश की सीमा से परे उनकी कल्पना का विस्तार करे, उन्हें यह दिखाए कि उनकी समस्याएँ एवं अभिशाप एक व्यापक मानवीय अनुभव के अंग हैं जो इस वृहत्तर समुदाय में नए अर्थ प्राप्त कर लेते हैं - - -यह व्यापक रूप से कल्पना और अनुभूति की शिक्षा है - आवश्यक यह है कि यह शिक्षा अन्य भाषाओं के साथ इतिहास के साथ और विचारो के साथ गूँथ दी जाए ।" इस दृष्टि से साहित्य की उच्च शिक्षा के चार अंग होते है

अध्यापन, कल्पनात्मक क्षमता का विकास, शोध द्वारा समृद्ध ज्ञान, निर्देशक की सृजनात्मक विद्वत्ता

हमने यह सब हासिल नहीं किया है यह तो सच है, परन्तु हमने कम से कम दिशाएं भी उद्घाटित कर ली हैं या नहीं - यह प्रश्न तो पूछा ही जा सकता है । उत्तर हम सब जानते हैं ।

विश्वविद्यालय स्तर पर चुनाव और पाठ्य समितियों के चुनाव, शोध समितियों के गठन आदि की अन्दरूनी व्यवस्था भी इस स्थिति के लिए कम जिम्मेदार नही है । अनुभव यही सिखाता है कि जो छात्र चतुराई से तथ्य ग्रहण करने और विलक्षण रूप में उन्हें प्रस्तुत करने में जितना ही माहिर होता है, उसकी नियुक्ति की सभावना उतनी ही अधिक होती है । जो उत्कृष्ट होता है उसके चुनाव में न्यूरेटिक भय हो सकता है, निकृष्ट को चुनने में प्रतिष्ठा का भय होना स्वाभाविक है । तब सामान्य सिद्धान्त यह है कि सामान्य रूप से, सामान्य लोगों द्वारा, सामान्य किन्तु स्वामिभक्त लोग सामान्य पद्धति के द्वारा चुने जाएँ 'हर विश्वविद्यालय में हिन्दी के शोध छात्रों की एक गणपति सेना तथा छात्राओं की देवसेना होती है जिसमें पुराने से पुराने विनीत छात्र की नियुक्ति का ज्यादा से ज्यादा मौरूसी हक बनता जाता है। कुछ प्रोफेसर अपने छात्रों के लिए पद लाभ दिलाने के कारण दिग्विजयी हो जाते हैं और वृहत्तर भारत में उनके दिग्विजयी अश्व तथा द्वारपाल कूकर तक पूजे जाते हैं ।'' महाविद्यालयों का सम्बन्धन करने वाले विश्वविद्यालयों की स्थिति इनसे कुछ बहुत अच्छी हो, ऐसी बात नहीं है, हाँ, फर्क सिर्फ इतना है कि यहाँ सत्ता सिर्फ प्रोफेसर के हाथों में केन्द्रित न होकर, कुछ अन्य प्रकारों से अन्य हाथों में बँटी रहती है । सब मिलाकर स्थिति यह बनती है कि छात्र अध्यापकों को कोसता है, अध्यापक छात्रों को । अधिकारी वर्ग कहता है टुटपुंजिए अध्यापक कुछ करना ही नहीं चाहते, अध्यापक कहता है अधिकारियों को उच्च शिक्षा की समझ नहीं है, वे व्यक्तिगत हित साधन में संलग्न है । कभी दोष पाठ्यक्रम पर होता है कभी शिक्षण-पद्धति पर । सबसे आसान रास्ता है, न हम जिम्मेदार न तुम, सारा दोष व्यवस्था का है कहकर शहीदाना अंदाज से हाथ झाड़ देना । जैसे व्यवस्था कहीं अन्तरिक्ष से तैर कर हम पर हावी हो गई हो, हम उसके अंग न रहे हों ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने उच्चशिक्षा में शोध एवं विशेषज्ञता को 'नोर्म' के रूप में स्वीकार किया है, अध्यापकों के लिए शोध-उपाधि का आवश्यक होना शायद उसी का एक अंग है । यहाँ मैं शोध स्तर एवं उसकी वैज्ञानिकता पर न जाकर एक दूसरा ही सवाल उठाना चाहती हूँ । वर्तमान पाठ्यक्रम एवं परीक्षा-प्रणाली मे क्या विशेषज्ञता का कोई वास्तविक उपयोग हो सकता है ? मान लीजिए मैं पृथ्वीराज रासो का एक सर्ग विशेष, प्राचीन काव्य के अन्तर्गत पढाती हूँ, जिसके विषय में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि यह उस युग की प्रामाणिक रचना नहीं है । अब, ऐसी स्थिति में मेरा यह कहना क्या अर्थ रखता है कि मैंने राजस्थान के विभिन्न भागों में जाकर लगभग २५० रासो ग्रन्थों की खोज की है । स्थिति तब और भी बिगड़ सकती है जब खोज तथ्यात्मक न होकर विश होती है हो सकता कोई मेधावी छात्र उन नवीन तर्कों का प्रयोग

कर परीक्षा में जो मिल सकता था उससे भी हाथ धो बैठे, क्योंकि परीक्षण के शीर्ष पर भी वही हैं जो पाठ्यक्रम निर्धारण के । विश्वविद्यालयों मे किसी सीमा तक इस सिद्धान्त की रक्षा की जा सकती है कि जो अध्यापक जिस 'ज्ञान' का अधिकारी हो वही पढ़ाए, परन्तु डिग्री कालेजों में सभी 'धान वाइस पसेरी' है, वहाँ एक अनुसंधाता अपने को बगिया में घिरे हुए वछेड़े की तरह महसूस करता है ।

साहित्य-शिक्षण की पद्धति की भी अपनी विशिष्ट समस्याएँ हैं । सबसे बड़ी बात तो यह है कि अध्यापन एक विश्लेषणात्मक क्रिया है जबकि साहित्य अपनी सीमा में संश्लेषणात्मक है । आन्यतिक विश्लेषण तो साहित्य के स्वरूप को ही बिगाड़ सकता है । ऐसी स्थिति में साहित्य के अध्यापक को विश्लेषण का सहारा लेते हुए भी दृष्टि इस पर रखनी पड़ती है कि रचना की समग्रता और उसका अनुभव सही-सही सम्प्रेषित हो जाए । इस दृष्टि से देखने पर भी, यह साफ नजर आता है पाठ्यक्रम में नया साहित्य समाविष्ट कर देने से भी नया कुछ हासिल होने वाला नही है, जब तक अध्ययन और अध्यापन के औजार नए नहीं होते । एक युग था जबकि पद्य के अर्थ पर अधिक वल दिया जाता था । एक-एक पद के कई अर्थ निकाले जाते थे, बाल यहाँ तक निकाले जाते थे कि खाल ही निकल आती थी । वह अध्यापक उतना ही प्रवीण माना जाता था जो जितने अधिक अर्थ निकाल सके । बिहारी के प्रसिद्ध दोहे 'राधानागरि सोय' के एक साहब बावन अर्थ बनाते थे । इस प्रकार की कई स्तरीय टीकाएँ भी लिखी गई हालाकि आज अध्यापक यह स्वीकार करने से कतराते हैं और 'छिप' कर उनका पारायण करते हैं । इस प्रकार की पद्धति वर्तमान युग में उपयोगी हो सकती है यह सन्देहास्पद है । अपेक्षाकृत नए साहित्य के लिए तो वह और भी जर्जर साबित होती है । मुक्तिबोध की 'अधेरे में' कविता यदि लड़झगड़ कर उदात्त मुद्रा में लगा दी जाए तो उससे क्या होता है? इस बात की क्या गारन्टी है कि वह 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है के भावोच्छ्वास से नहीं पढ़ायी जाने लगेगी, अथवा टीका के अभाव में आगामी परीक्षा में महत्वपूर्ण न मानकर अध्यापक एवं छात्रों, दोनों के द्वारा 'आंगन के पार द्वार' में छोड़ दी जाय ।

कविता में शव्दार्थ सम्बन्धों की निजी विशिष्टता होती है 'जिसमें शव्द और अर्थ का सम्बन्ध 'स्थिर' न होकर 'गत्यात्मक लचीला, और सृजनात्मक होता है । यह सम्बन्ध 'एक और एक' का न होकर एक और अपरिमित का होता है । साहित्य का पाठ्यक्रम तो ऐसा होना चाहिए जो एक ओर संवेदनात्मक ज्ञान को पुष्ट करने में मदद दे और दूसरी ओर उसमें विद्यार्थी में इतिहास बोध का विकास हो, उसका ज्ञानात्मक आधार पुष्ट हो - स्पष्ट ही यह कार्य अकेले पाठ्यक्रम का नही है - अध्यापन-पद्धति का है । अध्यापक का कार्य रचना के अनुभव से टकराना और उसका इस ढंग से विश्लेषण और व्याख्यान करना है कि वह विरूप और विकृत न हो जाए- विद्यार्थी को किसी कृति के आमने-सामने लाकर इस तरह छोड़ देना होगा कि वह उससे सीधे अनुभव का भागीदार हो सके

यहाँ भी समस्या पूर्ण रूप से हल नहीं होती । आधुनिक रचना को लेकर किए गए व्याख्यान भी आधार बदलते रहते हैं और अध्यापक के लिए सर्वथा, सर्वत्र स्वर्णिम 'मध्यमार्ग' खोज लेना आसान नहीं होता है । यदि केवल कविता की ही आलोचना को लेकर चलें तो कम-से कम निम्न आधार सामने आते हैं -

- रचना को वस्तु बनाकर
- रचनाकार को लेकर
- रचना के संसार को लेकर
- रचना-विधान को लेकर
- रचना के यथार्थ को लेकर
- रचना के परिवेश को लेकर
- 'बोध' विशेष को लेकर
- संरचना को लेकर
- विधा को लेकर
- रचना की पहचान को लेकर
- रचना की परख को लेकर

इतनी दृष्टियाँ केवल कविता को लेकर हो सकती हैं और वे भी केवल आधुनिक । प्राचीन एवं मध्यकालीन कविता की परख के लिए ये औजार नाकाफी होगे ठीक उसी तरह जिस तरह नयी कविता के लिए मध्यकालीन रस, छन्द, अलकार और चमत्कारों के प्रतीकात्मक माध्यम । अब सर्वज्ञ अध्यापक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह एक साथ अपभ्रंश भाषा पर अपना अधिकार दिखाता हुआ, द्वैताद्वैत-विशिष्टाद्वैत के संग्राम में झूमता हुआ नायिकाओं के विभिन्न सूक्ष्म भेदों को बारीक चिमटियों से उठाकर एक कोने से दूसरे कोने में रखता हुआ, अरस्तू और भरत पर एक साथ निर्णय देता हुआ, सम्पूर्ण विश्व के भाषा वर्गों का पारंगत हो नव्यतम औजारों से अपने को सज्जित करे और व्यासपीठ बनाकर सात सौ से सोलह सौ की रेल की पटरियों के बीच घुटनों के बल रेंगता रहे और बार-बार एक हजार रुपए का बाण छिदवाकर भीष्म की तरह सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा करे । करे क्या अध्यापकों का कायाकल्प हो गया है, और हिन्दी साहित्य के अध्यापकों को जो जरूरत तथा योग्यता दोनो से ही अधिक दिया जा चुका है । जय माँ भारती !

एक बात और है, जिस पर हमारा ध्यान शायद ही कभी जाता हो । जब भी हम उच्चशिक्षा की बात करते हैं हमारे सामने विश्वविद्यालय के मॉडल होते है। डिग्री कालेजों पर हमने कभी अलग से विचार किया ही नहीं है, जबकि ऐसा करना बहुत जरूरी है । अगर आप विद्वान अनुमति दें तो मैं एक रूपक का प्रयोग करना चाहूँगी । यदि हम हायर सेकेण्डरी को साइकिल माने और विश्वविद्यालय -शिक्षण को मोटर कार, तो डिग्री कालेज की शिक्षा मोटर साइकिल है । हमें एक साथ मोटर भी होना है और साइकिल भी विश्वविद्यालय में गति का महत्व है सन्तुलन की चिन्ता उतनी नही की जाती आपके शोधकार्य क्या है कितने पेपर लिखे हैं

कितने विश्वविद्यालयों के परीक्षक हैं, एक साथ कितने शोध-छात्र आपके निर्देशन में कार्य कर रहे हैं यह बातें अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं । आपके पढ़ाए हुए प्रश्नपत्र के विशिष्ट भाग में कितने छात्र पास हुए हैं ? यह आपसे कोई नहीं पूँछता। इसी तरह हायर सेकेण्डरी तक शिक्षण कार्य के माप का ही महत्व होता है, वहाँ आप से यह नहीं पूछा जाता है कि आपकी अकादमिक प्रगति क्या है । परन्तु डिग्री कालेज । हमें एक साथ मोटर भी होना है साइकिल भी होना है । मोटर की तरह तेज दौड़ना है और साइकिल की तरह सन्तुलन भी बनाए रखना है और आजीवन द्वितीय श्रेणी के स्कालरशिप में सफर करना है ।

अन्त में, सुझाव देने का दम मैं नही करती । समष्टि रूप से कुछ प्रश्नों को ही रेखांकित करना चाहूँगी -

- क्या हिन्दी साहित्य का शिक्षण राष्ट्रीय है ?
- क्या वर्तमान साहित्य-शिक्षण वैज्ञानिकता, वैचारिकता और आधुनिकता को प्रश्रय देता है ?
- साहित्य शिक्षा ज्ञान, कौशल और रोजगार का कहाँ तक समंजन कर सकी है ?
- हिन्दी-भाषा प्रदेशों के पिछड़ेपन और मूढ़ता को दूर करने में कहाँ तक सहायक होती है ?
- 'भाषा (हिन्दी) बोल न जानहीं जिनके कुल के दास ऐसी परम्परा वाले 'उच्च' वातावरण' में 'हिन्दी वाला' छात्र कितनी दृष्टि से ऊपर उठ सकता है ?
- वर्तमान साहित्य शिक्षा युवा-पीढ़ी को किस हद तक निर्देश दे सकती है?
- साहित्य शिक्षण ज्ञान की आंचलिकता, प्रान्तीयता और अन्धराष्ट्रीयता से कहाँ तक विमुक्त हो सका है ?
- यह राष्ट्रीय एकीकरण भावनात्मक एकता की शर्तों का कहाँ तक पालन करती है ?
- विश्व में होने वाली हलचलों और वैचारिक नवीनताओं से साहित्य-शिक्षण को कहाँ तक जोड़ा जा सकता है ?
- अपनी महान सांस्कृतिक विरासत के सार्थक अंश को वहन करते हुए भविष्य के लिए क्या संभावनाएं विकसित कर सकती है ।

अभी समय है कि हम इन प्रश्नों के उत्तर खोज लें, अन्यथा हमें भावी पीढ़ी को अपनी निष्क्रियता के लिए उत्तर देना पड़ेगा ।

◆ ◆ ◆

राम कथा का उद्भव - एक परिकल्पना

रामकथा की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक रूप से प्रायः विचार कर रही हूँ, एक धुंधली परिकल्पना भी मेरे मन में थी, जो क्रमशः आकार ग्रहण करती रही । इस रूप रेखा को मैं आपके सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूंगी ।

अध्ययन सामग्री

- विविध रामकथाओं का अध्ययन
- उत्तर-प्रदेश की लोक वार्ता, इसमें प्रायः प्रकाशित संकलनों की सहायता ली गई है, परन्तु कुछ गीत मेरे व्यक्तिगत संग्रह के भी हैं । सम्पूर्ण गीत वे ही उद्धृत किए गए हैं जो प्रकाशित नहीं हैं, शेष का केवल उल्लेख भर किया है ।

अध्ययन प्रणाली

- विविध राम कथाओं का कथा सूत्रों के आधार पर अध्ययन तथा कथा-चक्रों एवं कथानक का अध्ययन
- विविध लोकगीतों का कथा-तत्वों की दृष्टि से वर्गीकरण
- सामान्य तथ्यों का आकलन
- इन तथ्यों की उत्पत्ति की परिकल्पना

निष्कर्ष :

अन्त में मैंने अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें विभिन्न कोणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ।

रामकथा का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है -

अ. अलौकिक जन्म

रामकथा के संबंध में कोई न कोई अलौकिक घटना जुड़ी मिलती है, जिससे अप्राकृत जन्म की कथानक रूढ़ि उसमें अनिवार्य रूप से मिली रहती है । बालक अभिप्राय, विश्व का लोकप्रिय अभिप्राय रहा है । लोकवार्त्ता में विशिष्ट नायक किसी के आशीर्वाद से, किसी फल से, अथवा गौ या गूगल से उत्पन्न होते हैं । इनके पीछे लोक मानस अपना कार्य करता रहता है । २००० ई. पू. में मिस्र में होरस नाम के देवता के संबंध में जो अन्य बातें कही जाती हैं, उनमें एक यह भी है कि फल से आइसिस के गर्भधारण हुआ भारतीय साहित्य तथा म भी यह अभिप्राय अत्यन्त लोकप्रिय रहा है

बाल्मीकि रामायण में रामादि भाइयों का जन्म पुत्रेष्टि यज्ञ द्वारा माना गया है।[१] स्कन्ध पुराण में दशरथ सौ वर्ष तक कार्तिकेयपुर में तप करने जाते हैं । अन्त में जनार्दन प्रगट होते है और चार रूप धारण कर दशरथ के पुत्र बनने की प्रतिज्ञा करते हैं । बाद में दशरथ के चार पुत्र और एक पुत्री का उल्लेख किया गया है ।[२] भागवत् पुराण में दशरथ ने देवताओं के पक्ष से युद्ध किया और एक वर प्राप्त किया । दशरथ ने एक पुत्र मांगा, देवताओं ने उन्हें चार पुत्रों का वर दिया ।[३] तिब्बती रामायण के अनुसार दशरथ ने पॉच सौ कैलाश निवासी ऋषियों से पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना की । उन्होंने दशरथ को एक फूल दिया जिसे उनकी दो पत्नियों ने खाया । फलस्वरूप दोनों ने गर्भधारण किया ।[४] बिर्होर राम कथा के अनुसार किसी ब्राह्मण को अपने ज्येष्ठ पुत्र दे देने की प्रतिज्ञा करने के बाद दशरथ उसके जादू द्वारा चार पुत्र प्राप्त करते हैं ।[५]

लोक गीतों में भी दशरथ निरवंसिया हैं, जिन्हें देखकर 'हेलनि' भी अशगुन मानती है । फलस्वरूप दशरथ वन में चले जाते हैं, तप करते हैं, एवं किसी साधु के आशीर्वाद से पुत्र प्राप्त करते हैं ।[६]

एक अन्य अवधी गीत में दशरथ रानी कौशिल्या को काठ का बालक बनवा देते है, जिसमें जादू के द्वारा प्राणों की स्थापना की जाती है ।[७] एक बुन्देल खण्डी कृषि गीत में आम के फल द्वारा राम तथा अन्य भाइयों की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण गीत इस प्रकार है :

रामा हो कोने ये सुअना पालियो
कौ धुर दूध पियाये ।
रामा दसरथ सुअना पालियो रे
कैकेयी दूध पियाये ।
उड़ जा रे सुअना नन्दन बन हो
दो फल ल्याउ पंछी तेर
सोन मढादउ तेरी पांखरी
रूपे मढ़ाउं तेरी चोंच ।
काहे से जे फल टोरियो हो
कैसे लै उठ जाय ।
चोंचन जो फल टोरिय हो
पंखन ले उड़ जाय ।
एक वन चलि सुअना दो वन चलि
तीजे वन पहुचे जाय ।
पांच आम की झुमकिया रे
सुअना रहे लुभियाय ।

चोंचन अमोला टेरियो रे
पंखन ले उड़ जाय ।
आवत देखे जव सुअनां को
राजा दसरथ हिया लहराय ।
एक आम की फांक की
राजा दसरथ दई करवाय ।
कौना को दई राजा करि करि फांकी
कौना को दई सिगवारि ।
कौशिल्या सुमित्रा को करि करि फांकी
कैकेयी को दीन्ही सिंगवार ।
कौना के भए रामा चरत भरत
कौना के भए राजा रामा
कैकेयी सुमित्रा के चरत भरत
कौसिल्या के भए राजा राम [८]

ब. प्रेम कथा

रामकथा मूलतः एक प्रेम कथा है । असीम परिश्रम से राम सीता को एक बार जनकपुर से प्राप्त करते हैं दूसरी बार लंका से ।

इस प्रेमकथा का मुख्य भाग स्वयंवर अभिप्राय है जिसमें कन्या का विवाह किसी महत्वपूर्ण कठिन कार्य पर निर्भर रहता है । यह अभिप्राय भी विश्व की सभी प्रेमकथाओं में समान रूप से लोकप्रिय है ।

बाल्मीकि रामायण में सीता का विवाह शिव धनुष के अधीन है । अन्य राजा शिवधनुष चढ़ाने में असमर्थ रहे, राम ने उसमें सफलता पाई एवं सीता से विवाह किया । यही कथा प्रायः बाद की राम कथाओं में भी जुड़ती रही है । किन्तु बाल्मीकि रामायण के प्रभाव से दूर रहकर जिन कथाओं की रचना हुई है उनमें विभिन्नता भी मिलती है । जेरत कांड के अनुसार सीता के पोष्य पिता रेसिकल ने एक आकाश से गिरा हुआ धनुष प्राप्त किया और संकल्प किया कि जो इस धनुष से चलाये हुए बाण से सात ताल वृक्ष विद्ध कर सकता है उसी को सीता पत्नी रूप में मिल सकती है । रावण केवल छः वृक्षों को ही विद्ध कर सकता है । ये सात ताल एक सांप की पीठ पर चक्राकार खड़े हैं लक्ष्मण उस सांप को दबाकर सीधा करते हैं । [६] सेरी राम तथा हिकायत महाराज रावण में चालीस वृक्षों का उल्लेख किया गया है, रावण केवल अड़तीस छेदने में समर्थ है । सेरीराम में महारेसिकल राम की एक अन्य परीक्षा भी लेते हैं । सीता को मूर्तिवत् खड़े रहने का आदेश देकर महारेसिकल उसे एक मन्दिर मे छिपाते हैं जहां एक सहस्र मूर्तियाँ हैं । राम सीता की खोज करते हुए मन्दिर में पहुचते है और मूर्तियो का गुदगुदा कर सीता का पता लगाते हैं [१०]

लोकगीतों में भी प्रायः धनुष का अभिप्राय स्वीकृत है । राजाजनक को शिव द्वारा एक धनुष दिया गया था, जिसे कोई उठाने में भी अर्थ नहीं था, सीता उसे बाएं हाथ से उठाकर उसके नीचे लीप देती है । उसी समय जनक प्रतिज्ञा करते है कि जो शिवधनुष तोड़ेगा उसी के साथ सीता का विवाह करूंगा ।[११] सीता राम की प्राप्ति के लिए शिव पार्वती की आराधना भी करती है ।[१२] एक बुन्देल खण्डी लोकगीत में सीता अपना खेत रखा रही थी, राम वहां पानी के लिए पहुंचते हैं और पूर्वराग के कारण दोनों का विवाह हो जाता है ।[१३] अवधी के एक अन्य गीत मे राम सीता की चित्रकला पर मुग्ध हो जाते हैं -

बाजत आवे ककरेला रे बाजन घुमड़त आवै निसान ।
राम लखनं दूनो पूछत आवें कवन जनक दरवार ।
गौवां के आसे पसि घन बसबरिया अंगना निबुला अनार
भितिया तौं जनके रे पुतरी उरेही उहै जनक दरवार ।
भितरा से निकसी है जनक की नाइनि राम लिहिन बुलाय ।
के यह पुतरी उरेही है नाइन हमसे कहौ अरथाय ।।
घर घर जनक जी विजय करावै हमसे दुतैया नाही होय ।
जोने रानी भवा क व्याहन आए ते ये पुतरी अरेह ।।[१४]

स. राम बनवास

विमाता द्वारा दो भाइयों को वनवास की कथा लोक वार्त्ता का बहुचर्चित अभिप्राय है । रामकथा में उसका थोड़ा परिवर्द्धित रूप मिलता है । रामलक्ष्मण के साथ सीता भी बन जाती हैं ।

रामवनवास के कारणों में भी विविधता मिलती है, जो उसके लोकतात्विक रूप की ही ओर संकेत करती है । वाल्मीकि रामायण के अनुसार कैकेयी अपने दो वरों के फलस्वरूप भरत के लिए राज्य तथा राम के लिए चौदह वर्षों का वनवास मांग लेती है । दशरथ जातक में कैकेयी के केवल एक वर का उल्लेख किया गया है जिसके द्वारा भरत राज्य पाते हैं राम षडयन्त्रों के डर से स्वयं ही वन चले जाते है । अनामकं जातक में अपने मामा के आक्रमण की तैयारियों को सुनकर राम सघर्ष के निवारण के लिए रानी सहित वन चले आते हैं । जैन पउम चरिउ में भी गम स्वेच्छा से बन के लिए प्रस्थान करते हैं । सिंहली राम कथा मे शनि की अशुभ दशा के दुष्परिणाम मे बचने के लिए राम मीता को राजधानी में ही छोड़कर वन चले जाते है । तिव्वती रामायण के अनुसार दोनो पुत्रों में से किसे राज्य दिया जाए, पिता को इस विषय पर चिन्तित देखकर राम स्वेच्छा से किसी आश्रम मे जाकर तपस्या करने लगते हैं ।[१५]

उसी प्रकार कैकेयी की वर प्राप्ति के विभिन्न कारणों का उल्लेख किया गया है । वाल्मीकि रामायण के अनुसार देवासुर संग्राम में दशरथ इन्द्र के पक्ष मे शम्बासुर के विरुद्ध युद्ध करते है तथा आहत होकर कैकेयी द्वारा रणभूमि मे हटाए

जाते हैं । फलस्वरूप कैकेयी को दो वर प्राप्त होते हैं । एक बहु प्रचलित अभिप्राय यह भी है कि देवासुर संग्राम में दशरथ के रथ का टूटा हुआ अक्ष देखकर कैकेयी ने उसमें अपना हाथ रख दिया था । कृत्तिवास रामायण में यह वर कैकेयी को दशरथ के अंगुली के फोड़े की चिकित्सा करने के कारण मिला था ।

पाश्चात्य वृत्तान्त में उल्लिखित है कि कैकेयी ने बिच्छू से डसे हुए दशरथ को स्वस्थ्य कर दूसरा वर प्राप्त किया था । दशरथ जातक में यह वर कैकेयी भरतजन्म के अवसर पर प्राप्त करती है । सेरी राम में भी इसी से मिलती जुलती कथा मिलती है । कैकेयी विवाहोत्सव में दशरथ की पालकी को गिरने से बचाती है और तीन दिन बाद उनके कमर के फोड़े की चिकित्सा करती है । प्रसन्न होकर दशरथ उसके पुत्र को राज्य देने की प्रतिज्ञा करते हैं ।[१६]

लोकगीतों में वनवास के बड़े सजीव चित्र उपस्थित किए गए हैं । एक गीत में राम वनवास का कारण सपत्नी दाह माना गया है । राम का जन्म हुआ, सगीत ध्वनित हो उठा, कैकेयी राम को देखने के लिए कौशिल्या के पास गई, परन्तु कौशिल्या बहाना बनाकर टाल देती है । उसी समय कैकेयी रामवनवास की घोषणा करती है ।[१७] एक अन्य गीत में विवाह के समय स्वयं जनक राम के वनगमन का भविष्य कथन करते है ।[१८] राम सीता से रुष्ट होकर वन में लुप्त हो जाते हैं, ऐसा कारण भी एक लोकगीत में बताया गया है ।[१६] कैकेयी की वर प्राप्ति का कारण भी मौलिक है । वह राजा दशरथ के पैर में चुभा हुआ कांटा निकालती है और फलस्वरूप दो वरदान प्राप्त करती है -

सोने के खड़उवां राजा दसरथ खुटर खुटर चलें
राजा गइले कदलिया के बनमा त कांटा गड़ि गइले ।
जो मोरे कंटवा निकरहि बेदन हर लिहे ।
अरे जवना मंगवा तवन हम देवइ हो ।
घर से निकसी कैकेयी रानी सोरहो सिंगार कइले ।
राजा हम तुहरे कंटवा निकरबइ बेदन हरि लेबइ ।
अरे जवन मंगन हम मंगवइ तवन रउरे देवइ ।
अंगुली से कटवा निकारली बेदन हरि लिहली ।
राजा जंवन मंगन हम मंगली तवन रउरे देई ।
राजा राम लछन वन जायं भरत राज बिलसें ।

द. गर्भवती स्त्री का त्याग

किसी अपराध या शंका के कारण, गर्भवती स्त्री का त्याग वन में असहाय अवस्था में सन्तानोत्पत्ति एवं बालक का असाधारण होना लोकवार्ता का एक प्रिय अभिप्राय है । बाद में कहीं तो स्त्री पुनः घर चली जाती है, अथवा लुप्त हो जाती है रामकथा मे भी यही अभिप्राय पाया जाता है सीता त्याग के विभिन्न कारण लोकवार्ता की ही उत्पत्ति हैं

बाल्मीकि रामायण में सीता त्याग का कारण लोकोपवाद माना गया है।[२०] बाद में भी यह कारण सर्व प्रचलित रहा, और संस्कृत के अन्य महाकाव्यों में भी इसे आधार रूप में ग्रहण किया है ।

जैन रामायण में सीता त्याग का कारण परिवर्तित है । राम स्वयं गर्भवती सीता को वन में विभिन्न चैत्यालय दिखा रहे हैं । राजधानी के नागरिक उनके पास आते हैं और सीता संबंधी अपवाद की चर्चा करते हैं । राम अपने सेनापति कृतान्तवक्र को बुलाकर सीता को जिन मन्दिर दिखलाने के बहाने गंगा पार भयानक वन में छुड़वा देते हैं । आगे की कथावस्तु काफी भिन्न है । पुंडरीक पुर के राजा वज्रजंघ सीता का विलाप सुनकर उसे अपने महल में ले जाते हैं, जहां सीता के दो पुत्र उत्पन्न होते हैं ।[२१]

इस लोकोपवाद के अतिरिक्त सीतात्याग के अन्य ऐसे कारण भी माने गए है जो मुख्यत: लोकवार्त्ता की उत्पत्ति है । हेमचन्द्र कृत जैन रामायण में सीता की सपत्नियाँ उसे रावण का चित्र खींचने के लिए वाध्य करती हैं । सीता यह कहकर उसके चरणों का चित्र खींच देती है कि उसके मुख की ओर मैंने दृष्टिपात ही नही किया । बाद में वह चित्र राम को तो दिखाया ही गया दासियों द्वारा उसका समाचार जनता में प्रचारित कर दिया गया । राम ने गुप्तवेश में भ्रमण करते हुए सीता-अपवाद के कारण अपनी निन्दा सुनी और उन्हें वन में छोड़ देने का आदेश दे दिया ।

पन्द्रहवी शताब्दी के कृत्तिवास रामायण में सीता की सखियां जिज्ञासा से प्रेरित होकर सीता से रावण का चित्र खींचने का अनुरोध करती हैं । सीता अपने शयनागार के फर्श पर रावण का चित्र खींच लेती हैं और सखियों के चले जाने के बाद थकित होकर उसी चित्र के पास स्वयं सो भी जाती हैं । राम आते हैं और सीता पर शंका करके उसका त्याग कर देते हैं । सोलहवीं शताव्दी में रचित चन्द्रावली बगाली रामायण में, तथा मलय के सेरी राम में कुका-कैकेयी की पुत्री, के बहकाने मे आकर सीता अपने छोटे पंखे पर रावण का चित्र अंकित करती है । वाद मे कुकुआ सोती हुई सीता के वक्ष पर इस पंखे को रख देती है, राम इस दृश्य को देखकर सीता को त्याग देते हैं । काशमीरी रामायण में कुकुआ के स्थान पर राम की सहोदरा बहिन का उल्लेख किया गया है । नर्मदकृत गुजराती रामायण में राम स्वयं सीता को रावण का चित्र अंकित करते हुए देखते हैं । जावा के सेरत काड मे कैकेयी स्वयं सीता के पंख पर रावण का चित्र खीचती है और सोती हुई सीता के पलंग पर रख देती है । आनन्द रामायण में भी कैकेयी सीता से रावण का चित्र खींचने का अनुरोध करती है । रावण चित्र सम्वन्धी कथाओं का एक अन्तिम रूप मिलता है जिसमें अलौकिकता छा गई है । सिंहल द्वीप की रामकथा में उमा सीता के यहाँ आकर केले के पत्ते पर रावण का चित्र खीचती है । राम के अचानक आने पर सीता इस चित्र को पलग के नीचे फेंक देती है । राम पलंग पर वैठ जाते है पलग कापने लगता है कारण का पता चलने पर राम अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते है और अपने भाई का सीता की हत्या करने की आज्ञा देत ह लक्ष्मण वन से अपना

खंग किसी पशु रक्त से रंग लाते हैं और राम को दिखाकर विश्वास दिलाते हैं कि सीता मर गई । रेआम केर में एक यक्षिणी सीता की एक सखी का रूप धारण कर उससे रावण का चित्र खिचवाती है और उसके बाद उस चित्र को उतार लेती है । अतः प्रयत्न करने पर भी सीता उस चित्र को मिटा नहीं पाती । निराश होकर उसे पलंग के नीचे छिपा देती है । राम आकर लेटते हैं तो ज्वार उत्पन्न होता है - राम कारण का पता लगने पर सीता को मार डालने और प्रमाण स्वरूप उसका कलेजा लाने का आदेश देते हैं । लक्ष्मण वन से अपना खंग किसी पशु के रक्त से रंग लाते हैं और राम को विश्वास दिलाते हैं कि सीता मर गई । राम जातक और राम कियेन में भी इसी से मिलता जुलता रूप पाया जाता है ।[२१]

लोक गीतों में भी चित्र का अभिप्राय सर्वप्रिय रहा है । यहां चित्र प्रेरित करने वाली राम की सहोदरा बहिन और सीता की ननद है । लोकवार्त्ताओं मे चिरपरिचित ननद भावज का द्वेष यहाँ भी लक्षित होता है :-

अरे मेरी भावी लंका भेद हमें री बताओ
तो कैसी लंका बनी है री ।
अरे मेरी ननदी बावन कोट छप्पन दरवाजे
तो लिख रे लंका बनाई है ।
अरे मेरे वीरा या सीताकूं वन को खदाओ
रावण में रह आई है ।

एक अन्य गीत में सीता रावण का चित्र इसलिए अंकित करती है कि उसके मायके में ऐसा प्रचलन था । परन्तु राम उसचित्र को देख लेते हैं, और सीता को वनवास देते हैं -

सात सखी को झूमटा सीता माटी ने चाली हो राम
सीता माटी लायके हरियर गोबर ने चाली हो राम ।
जल गंगा को लायके केसर घोट के घोली हो राम ।
केसर चन्दन घोल के हरि के मन्दिर लीपे हो राम ।
हरि के मन्दिर लीप के रावण मांडे हो राम ।
सांझ पड़ी दिन छिपने लगा, राम जी घर आए हो राम ।
पानी लाओ माता सबकी, रामजी बहुत तिसाने हो राम ।
हाथ की पूंनी हाथ रही सीधी - - -को चाली हो राम ।
पानी पिओ बेटा रामजी जल - - को लाई है राम ।
हाथ का लोटा हाथ रहा रावण किन मांडे हो राम ।
हम ना जाने बेटा राम जी बहू सीता ने मांडे हो राम ।

अन्त में सीता को वनवास दे दिया जाता है । वहां लव-कुश का ज होता है राम सीता की पुन भेंट सभव नहीं होती

निष्कर्ष -

इस विवेचन से निष्कर्ष रूप मे कुछ तथ्य प्राप्त होते हैं :

(१) रामकथा की सम्पूर्ण अध्ययन सामग्री से यदि अन्य प्रभाव हटा दिए जाएं तो मूल कथा कुछ इस प्रकार की प्राप्त होती है -

(i) एक राजा है उसकी तीन रानियां हैं - राज्य वड़ा वैभव असीम, परन्तु पुत्र हीन-- किसी अलौकिक धटना से चार पुत्र प्राप्त होते हैं।

(ii) किसी दूसरे देश का राजा अपनी पुत्री के विवाह की घोषणा करता है, परन्तु विवाह किसी अलौकिक या साहसिक कार्य के अधीन है। राजा का बड़ा पुत्र इस कार्य में सफल होता है । अन्य पुत्रों का भी विवाह।

(iii) राजा बडे पुत्र को राज्य देना चाहता है पर विमाता के कारण वनवास, छोटा भाई और पत्नी भी वन जाते हैं. ।

(iv) सागर पर कोई स्वर्ण द्वीप है - उसका अधिपति महावली राक्षस-रानी के सौन्दर्य की प्रशंसा सुन उसका छल से हरण कर लेता है और उड़न खटोले पर बैठकर उड़ जाता है ।

(v) राजकुमार पक्षियों की सहायता से युद्ध करता है, रानी को छुड़ाता है - उसके सतीत्व की परीक्षा-बाद में गर्भवती पत्नी का त्याग, वन में असाधारण पुत्रों का जन्म-अन्त में रानी का लुप्त हो जाना ।

सम्पूर्ण कथानक चार कथाचक्रों से निर्मित हुआ है

(i) अप्राकृत जन्म

(ii) प्रेम कथा

(iii) वनवास

(iv) गर्भवती पत्नी का त्याग एवं उसका लुप्त हो जाना ।

इसके अतिरिक्त राम कथा की कुछ लोकप्रिय कथानक रूढ़ियां हैं :-

(i) अप्राकृत जन्म

(ii) शाप से प्राणी का पत्थर हो जाना

(iii) पत्थर से पुनः मनुष्य होना

(iv) आग पानी की वर्षा करने वाला वाण

(v) भस्म कर देने वाली रेखाएं

(vi) पशु पक्षियों से मनुष्य की वातचीत

(vii) पशुओं का आकाश में पत्थर लेकर उड़ना

(viii) इच्छाओं से चालित उड़न खटोला

x पत्थर का पानी मे तैरना

(x) तंत्र, मंत्र, शकुन और अपशकुन आदि ।

(xi) स्वर्ण मृग

(xii) पृथ्वी के राक्षस

(xiii) दसशीश, भुजाओं वाला रावण

(xiv) समुद्र का देवता

ये कथाचक्र और कथानक रूढ़ियां मूलतः लोकमानस की ही उत्पत्ति हैं ।

(२) रामकथा के मुख्य पात्रों से संबंधित कोई ऐतिहासिक घटना हुई अवश्य थी । उसके प्रमाण वेदों में विखरे राम कथा के विविध पात्रों के नाम है । क्रमशः उनके संबंध में अनेक कथाचक्र प्रचारित हो गए । यह लोक वार्त्ता विविध व्यक्तियों के साथ अलग-अलग देश में गई और अपनी मौलिक रूप रेखा की रक्षा करते हुए भी विविध देशों में इतने विविध रूप धारण कर लिये, जिन्हें तुलना करने पर यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है कि यह एक ही कहानी है जिसने इतने रूप वदले हैं । जर्मनी में यह फेदफुल जोहन, दक्षिण में राम लक्ष्मण की कहानी, वगाल में फकीर चन्द की कहानी, ब्रज में भाई होइ तो ऐसा होइ के नाम से चल रही है और इसके अनेकों रूपान्तर मिलते हैं । इनकी धुंधली रूप रेखा उस समय वन चुकी थी जब आर्य किसी एक स्थान पर शान्तिपूर्वक रहते थे ।[२२]

(३) बाल्मीकि रामायण की रचना प्रचलित लोक वार्त्ता के संकलन से हुई थी । आगे भी यही प्रक्रिया प्रचलित रही । तुलसी के समय में भी रामकथा की मौखिक परम्परा थी - कथासरित्सागर जैसी लौकिक कथा में रामकथा का होना इस बात का प्रमाण है । स्वयं बाल्मीकि ने कुशीलव द्वारा रामायण गाए जाने का उल्लेख किया है । कुशीलव उस समय के लोक गायक रहे होंगे । तुलसी ने भी परोक्ष रूप से इस लोक परम्परा का उल्लेख किया है -

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्योऽपि ।।

यह क्वचिद्न्योऽपि लोकवार्त्ता ही है -

तुलसी ने उनकी वन्दना भी की है

हानि कुसंग सुसंगति लाहू
लोकहु वेद विदित सब काहू । मानस ४१७

(४) यह लोक वार्त्ता जब भिन्न-भिन्न दर्शनों एवं दृष्टिकोणों से प्रभावित हुई तो उसकी पृथक-पृथक कोटियाँ निर्धारित हो गई । रामकथा के इस प्रकार तीन मुख्य विभाग हो गए ।

(i) ब्राह्मण रामकथा
जैन राम कथा
बौद्ध राम कथा

(५) भारत में जिस राम कथा की रचना हुई है वह अपने मूलरूप से अधिक निकट है - उसका सम्पूर्ण ढांचा लोकवार्ता के ही आधार पर है ।

(६) अनादि काल से रामकथा सम्बन्धी जो लोकगीत चले आ रहे हैं उनके छिन्न-भिन्न स्फुट रूप आज भी उपलब्ध होते हैं । भाषा, वर्ग, समाज धर्म की कोई भी स्थिति उसमें वाधक नहीं हो सकी है, कारण वे आवश्यकतानुसार प्रत्येक में अपने को ढाल लेते हैं । ये कुछ लोक गीत भी इसी स्थिति की ओर संकेत करते हैं ।

सन्दर्भ

१- वालकाण्ड, सर्ग, ८
२- स्कन्द पुराण, नागरखण्ड, अध्याय, १७१
३- भागवत् पुराण, ६-६४, ४६-६८
४- राम कथा, पृ. २६७
५- वही, वही
६- कविता कौमुदी, भाग, ५
७. कविता कौमुदी, भाग ५
८. व्यक्तिगत संग्रह से
९- रामकथा - पृ. २८७
१०- वही. वृ. वही
११- ग्रामगीत् - पृ. ३६१
१२- वही,
१३- व्यक्तिगत संग्रह से
१४- ग्रामगीत् पृ. ४१८-१९
१५- राम कथा - पृ. ३२०-३२१
१६- रामकथा - पृ. ३२२-२३
१७- ग्राम गीत्,
१८- ग्राम गीत् पृ. ४२६-२७
१९- वही, पृ. २६१
२०- रामायण- सर्ग १६ से ४३
२१- पउम चरिउ- विमलसूरि, पर्व ६३
२२- रामकथा. डॉ. कामिल बुल्के, के आधार पर

◆ ◆ ◆